DELHI UNIVERSITY
LIBRARY

DELHI UNIVERSITY LIBRARY

Cl. No. Δ2:37 152H6

Date of release for loan

Ac. No. 52857 12 DEC 1955

This book should be returned on or before the date stamped last below. An overdue charge of one anna will be charged for each day the book is kept overtime.

अदिति-ग्रन्थमाला
द्वितीय पुष्प

अदिति माता

प्रकाशक

श्रीअरविन्द-निकेतन

एम० एन० सहदर्शन एण्ड को०

कनाट सरकस

नयी देहली

२४ अप्रैल १०५६

श्रीअरविन्द आश्रम मुद्रणालय, पांडिचेरी (पृ० १–८)

अदिति मुद्रणालय, नयी देहली (पृ० ९–८०)

प्रति १००० मूल्य १)

विषयसूचि

प्रार्थना व ध्यान	श्री माताजी	....	५
'अदिति' नाम	श्री अभयदेव	....	९
अनागसो अदितये स्याम	,,	....	१२
तीनों ओर	,,	....	१८
मां	श्री हरिराम चौधरी	....	३६
मां का आवाहन-गीत	श्री नारायण प्रसाद	....	७४
अदिति की पुकार	डा० इंद्रसेन	....	७५
मां ! मैं तेरा	श्री नारायण प्रसाद	....	८०

वक्तव्य

'अदिति' त्रैमासिक पत्रिका के लेख गम्भीर सांस्कृतिक विषय से सम्बन्ध रखने के कारण पुराने नहीं हो सकते। उनका विषय सामयिक समाचार नहीं होता बल्कि मनुष्यजीवन के गम्भीर तथ्य तथा उन्हें व्यक्त और चरितार्थ करने के उपाय। इसलिये विचार-शील पाठकों के लिये वे सदा ही सार्थक और नये हैं।

अदिति का अब चौथा वर्ष चल रहा है और इसकी पुरानी फाइलों की मांग के सम्बन्ध में ही यह उचित समझा गया कि इसके

लेखों को पुस्तक रूप में प्रकाशित किया जाय। प्रस्तुत पुस्तक में 'अदिति नाम', 'माँ', 'अदिति की पुकार' आदि सब अदिति के सामान्य परिचय रूप ही लेख उपस्थित हैं। 'योग-विचार' नाम की एक दूसरी पुस्तक भी, जिसमें योग-सम्बन्धी लेख होंगे, शीघ्र ही तैयार हो जायगी। हम आशा करते हैं कि पाठक अदितिमाला के पुष्पों को सुगन्धित तथा उपयोगी पायेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक की छपाई में विभिन्नता के लिये हमें खेद है। बात यह है कि इसका अधिकांश भाग देहली में छपा था, शुरू के कुछ पृष्ठ जो वहां विशेष परिस्थिति के कारण छूटे रह गये थे श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पांडिचेरी में छपे हैं।

—इन्द्रसेन

प्रार्थना व ध्यान

ज्योंही मैं अपने आप को सभी सांसारिक दायित्वों से अलग कर लेती हूं त्योंही इन सब चीजों से संबंध रखने वाले सभी विचार मुझसे कोसों दूर भाग जाते हैं और मैं एकमात्र तथा पूर्ण रूप से तेरे ही चिन्तन एवं तेरी ही सेवा में तल्लीन हो जाती हूं। और तब पूर्ण शान्ति और आत्मप्रसाद के अन्दर मैं अपनी इच्छा को तेरी इच्छा के साथ युक्त कर देती हूं, और पूर्ण निश्चलतारचना के अन्दर मैं तेरे सत्य को प्रकट करने वाली वाणी को सुनती हूं।

तेरी दिव्य इच्छा के विषय में सज्ञान होने तथा तेरी इच्छा के साथ अपनी इच्छा को एकाकार कर देने से ही हम सच्ची स्वतन्त्रता और सर्वशक्तिमत्ता के रहस्य का पता पा सकते हैं, अपनी शक्तियों को पुनः जागरित करने तथा अपनी सत्ता को रूपान्तरित करने के रहस्य को जान सकते हैं।

तेरे साथ निरन्तर सर्वांगीण एकता बनाये रखना ही इस विषय में एकदम निश्चिन्त हो जाना है कि हम सारी बाधाओं को पार कर जायेंगे, बाहरी और भीतरी सभी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर लेंगे।

•

प्रभु ! हे प्रभु ! असीम आनन्द मेरे हृदय में भर रहा है, आनन्द-गान की अद्भुत तरंगें मेरे मस्तक में लहरा रही हैं और तेरी ध्रुव विजय में पूर्ण विश्वास होने के कारण मैं चरम शान्ति और अजेय शक्ति प्राप्त कर रही हूं। तू मेरी सत्ता के अन्दर ओतप्रोत हो कर विराजमान है, तू इसे संजीवित कर रहा है, इसके प्रसुप्त शक्ति-स्रोतों को गतिशील बना रहा है, इसकी बुद्धि को आलोकित कर रहा है, इसके जीवन में तीव्रता प्रदान कर रहा है, इसके प्रेम को दसगुना बढ़ा रहा है, और अब मैं यह समझने में असमर्थ हूं कि मैं यह विश्व हूं या यह विश्व "मैं" है, तू मेरे अन्दर है या मैं तेरे अन्दर हूं। एकमात्र तू ही विद्यमान है और सब कुछ 'तू' है; और तेरी अनन्त कृपा की लहरें जगत् में भर रही हैं, जगत् को डुबा रही हैं।

गाओ, गाओ, सब देश, सब समाज, सब मनुष्य, गाओ, भागवत सामंजस्य विद्यमान है, गाओ।

११ मार्च १९१३

शान्ति, समस्त पृथ्वी पर शान्ति....।

हे भगवान् ! ऐसी कृपा कर कि सब लोग साधारण चेतना से बाहर निकल आवें, सांसारिक स्थूल वस्तुओं की आसक्ति

से मुक्त होकर तेरी दिव्य उपस्थिति के ज्ञान में जाग्रत् हों, तेरी परम चेतना के साथ अपनी चेतना को युक्त करें और इससे प्राप्त होने वाली शान्ति के प्राचुर्य का आस्वादन करें।

हे प्रभु ! तू ही हमारी सत्ता का परम पति है, तेरा ही विधान हमारा विधान है; हम अपनी सारी सत्ता और शक्ति के साथ यह अभीप्सा करते हैं कि हमारी चेतना तेरी शाश्वत चेतना के साथ तादात्म्य प्राप्त करे जिससे कि प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक मुहूर्त में हम तेरा ही महान् कार्य सम्पन्न कर सकें।

हे नाथ ! हमें आकस्मिक घटनाओं की चिन्ता से मुक्त कर, साधारण स्थूल दृष्टि से मुक्त कर, ऐसी कृपा कर कि अब हम केवल तेरी ही आंखों से देखें और केवल तेरी ही इच्छा से कार्य करें; तू हमें अपने दिव्य प्रेम की सजीव ज्योतिशिखाओं में परिणत कर।

आदर के साथ, भक्ति के साथ, अपनी समस्त सत्ता के सानन्द आत्मोत्सर्ग के रूप में, हे प्रभु, मैं अपने-आप को न्योछावर कर रही हूं जिसमें तेरा विधान सिद्ध हो।

शान्ति, समस्त पृथ्वी पर शान्ति....।

१४ फरवरी १९१४

हे प्रभु ! हे अद्वितीय सद्वस्तु ! हे ज्योति की ज्योति और जीवन का जीवन ! हे संसाररक्षक परम प्रेम ! ऐसी कृपा कर कि हम तेरी अविच्छिन्न उपस्थिति की सचेतनता में अधिकाधिक पूर्णता के साथ जाग्रत् हो सकें, जिसमें हमारे सारे कार्य तेरे विधान के अनुकूल हो जांय तथा हमारी इच्छा और तेरी इच्छा के बीच कोई भेद न रह जाय। हे प्रभु ! हम इस भ्रमात्मिका चेतना से बाहर निकलना चाहते हैं, इस छाया-दृश्य वाले जगत् से मुक्त होना चाहते हैं जिसमें हमारी चेतना उस निर्विशेष चेतना के साथ, जो कि तू है, एकात्मता प्राप्त कर ले।

हे प्रभु ! लक्ष्य प्राप्त करने के हमारे संकल्प को स्थायित्व प्रदान कर, दृढ़ता और शक्ति प्रदान कर तथा वह साहस प्रदान कर जो समस्त निर्जीवता और शिथिलता को एकदम दूर कर दे।

हे प्रभु ! मैं तुझसे प्रार्थना कर रहा हूं, ऐसी कृपा कर कि मेरी सत्ता के सभी अङ्ग तेरे साथ एकत्व प्राप्त कर लें और अब मैं तेरी परम क्रियाशीलता के प्रति पूर्ण जाग्रत प्रेम की एक ज्योतिशिखा भर रह जाऊं।

१५ फरवरी १९१४

'अदिति' नाम

कई मित्रों ने पूछा है कि 'अदिति का क्या मतलब है, यह नाम क्यों रखा है ?' अन्यों को भी ऐसी जिज्ञासा होना स्वाभाविक है, क्योंकि यह वस्तुतः साधारण हिन्दी भाषा में अप्रसिद्ध शब्द है। असल में यह एक वैदिक शब्द है। हम यह सूचित कर चुके हैं कि पत्रिका का यह वैदिक नाम स्वयं श्रीअरविन्दका पसन्द किया हुआ है। लौकिक संस्कृत में 'अदिति' का अर्थ 'देवमाता' होता है। बस, 'अदिति' का अर्थ 'देवजननी' है इतना समझ लेना ही इस नाम के सौंदर्य का आनन्द लेने को काफी है। अदिति 'दिति' से उलटा है। 'दिति' राक्षसों की, असुरों की माता है। इसीलिए 'दैत्य' (दिति के पुत्र) राक्षसों का नाम है। 'अदिति' के पुत्र आदित्य होते हैं, सूर्य आदि देवता होते हैं। सो 'अदिति' देवों को उत्पन्न करने वाली देवजननी माता का नाम है।

श्रीअरविन्द के समष्टिगत और व्यष्टिगत योग का ध्येय देवजाति उत्पन्न करना, मनुष्य को देव बनाना है, यह हमारे पाठकों से अब छिपा न होगा। तो हम यह भी दृष्टि

में आ सकते हैं कि यह भगवान् की शक्ति, भगवती आद्या शक्ति, देवजननी अदिति माता की ही कृपा और शक्ति है जिस से कि श्रीअरविन्द द्वारा देखा गया दिव्य जगत की उत्पत्ति का महान् कार्य पूरा होना है। तो श्रीअरविन्द के उपदेश को सुनाने वाली पत्रिका का 'अदिति' से अधिक सुन्दर, सार्थक और समंजस नाम और क्या हो सकता था।

इस प्रकरण में बस केवल एक और बात की तरफ पाठकों का ध्यान खींच कर इस विषय को अभी हम समाप्त करते हैं। क्योंकि इस पत्रिका के आदर्श-मन्त्र-भूत

'अनागसो अदितये स्याम'

इस वेदवचन पर हम अगली बार पाठकों की सेवा में अपना एक लेख प्रस्तुत करने वाले हैं जिसके लिए कि इस पत्रिका में गुञ्जायश नहीं रही है। तब अदिति शब्द की कुछ और सूक्ष्मता में जाकर भी व्याख्या हो जायगी। पर इतना संक्षेप रूपसे अभी कह सकते हैं कि 'दिति' शब्द संस्कृत में जिस धातु से बना है उसका अर्थ है 'टुकड़े करना, खण्ड खण्ड करना, काटना'। सो यह हमारा वर्तमान अदिव्य, अविद्यायुक्त संसार, अधिक से अधिक खण्डित मानसिक प्रकाश से ही प्रकाशयुक्त होने वाला यह हमारा संसार, जिसमें हम प्रत्येक वस्तु को टुकड़े-टुकड़े, खण्डित, सीमित, परिमित रूपमें ही देख पाते हैं दितिका संसार है। श्रीअरविन्द इसे अदिति के लिए जीतना चाहते हैं, इसे अदिति का लोक बनाना चाहते

है, वह दिव्य, विद्यायुक्त लोक जिसमें अखण्ड, असीम दृष्टिगोचर और व्यवहारगोचर होता है, अतः जहां विशुद्ध असीम प्रकाश का राज्य है, जो कि मन को अतिक्रान्त कर ऊपर के अतिमानस 'विज्ञान' नामक तत्त्व की विशेषता है, और जिसको पाने की साधना ही श्रीअरविन्दकी सब साधना है। यह अखण्डता, असीमता, अपरिमिततारूपिणी विज्ञानमयी अदिति माता ही है जो कि दिव्यत्व को जन्म दे सकती है। अतएव, असीम-स्वभावा इस अदिति माता का राज्य हो जाने पर ही इस पृथ्वी का दुःख, दारिद्र्य, शोक-मोह, क्लेश, भय, मरण-त्रास से वास्तविक त्राण हो सकता है। और कोई जगत् के दुःख-पापको दूर कर सकनेका आत्यन्तिक सच्चा उपाय नहीं है। इसलिए हम 'अदिति' माता की उपासना करते हैं।

मुखपृष्ठ पर जो 'अदिति' माताका चित्र दिया हुआ है उसमें यही चित्रित है कि अदिति माता अपनी पुनीत उपस्थिति द्वारा जगत् के मनुष्यों को अभयवर प्रदान कर रही हैं। यह चित्र श्रीअरविन्द-आश्रम के एक कलाकार साधक का बनाया हुआ है।

अनागसो अदितये स्याम

यह वेद-वचन वेद के एक प्रसिद्ध मंत्र का अन्तिम चरण है। यह वेदमंत्र चारों वेदों में, ऋक् में, यजुः में, साम में और अथर्व में आया है। अथर्ववेद में तो दो बार आया है। इन चारों मूल वेदों के अतिरिक्त यह मंत्र तैत्तिरीय संहिता में दो बार आया है तथा निरुक्त में भी व्याख्यात है। इससे यह स्पष्ट है कि यह मंत्र वैदिक वाङ्मय में कितना महत्त्वपूर्ण है। इस लेख में हम इस मन्त्र के उपर्युक्त अन्तिम चरण के, जो हमारी इस पत्रिका का ध्येय मन्त्र हो गया है, विचार तक ही अपने आपको सीमित रखेंगे। पहिले तीन चरणों पर या संपूर्ण मंत्र पर हम अगली बार ही विचार कर सकेंगे।

इस वेद-वचन का शब्दार्थ है—(अदितये) अदिति के लिये हम (अनागसः) निष्पाप (स्याम) होवें। अदिति के लिये, अदीना दिव्यमाता के लिये, देवजननी शक्ति के लिये हम निष्पाप, निरपराध, निर्मल, त्रुटिरहित, अपूर्णतारहित, छिद्रहीन बनें, होवें, रहें। अदिति के सामने हम निष्कलंक रहें। अदिति को—अदीनता, बन्धनहीनता, अखण्डता को—पाने के लिये हम सब प्रकार की कमियों से रहित बनें। उस अदिति अवस्था को प्राप्त करके

के लिये या उस अदिति माता का बन जाने के लिये हमें निष्पाप, शुद्ध, विमल, दोषरहित, जरा सी भी विकलता से रहित होना चाहिये। ये सब भाव हैं जो कि इस वेदवचन का अर्थ समझ जाने पर इस वचन द्वारा पाठकों के अन्दर उठने चाहियें और उठते होंगे। पर जरा हम इस वेद-वचन के एक एक शब्द पर जुदा जुदा भी कुछ थोड़ा और अधिक विचार करें।

अदितये

'अदिति' इस प्राचीन वैदिक शब्द की व्याख्या हम कई प्रकार से कर सकते हैं। संस्कृत व्याकरण की धातुओं की दृष्टि से देखें तो 'दो अवखण्डने' या 'दीङ् उपक्षये' से दिति बना है। खण्ड खण्ड वाली या उपक्षययुक्त जो है वह दिति है, उससे भिन्न उत्पन्न हुवे हैं। खण्डितावस्था से रहित एवं उपक्षय तथा विनाश से रहित है अदिति। इसलिये निरुक्तकार यास्क मुनि ने 'अदिति द्यौरदितिरन्तरिक्षमदिति माता........' इत्यादि अदिति की महिमा प्रकट करने वाले वेदमंत्र को प्रस्तुत करते हुवे अदिति का अर्थ 'अदीना देवमाता' ऐसा किया है अर्थात् वह देवमाता जिस में उपक्षय या अवखण्डन की दीनता नहीं है। वह अमर, अखण्ड, असीम की देवता है। सब पाप, बुराई खराबी, नीचे दर्जे के भाव, असुर वृत्तियां और असुरत्व दिति से उत्पन्न होते हैं; सीमितता, खण्डितावस्था, विनश्वरता, दीनता की उपज हैं। और सब पुण्य, अच्छाई, उत्तमता, ऊँची कोटि के भाव अर्थात्

सब दैवी वृत्तियां और देवत्व अदिति से जन्मते हैं; असीमता, अखण्डता, सनातनता और अदीनता के गर्भ से उत्पन्न होते हैं। अथवा अदिति की व्युत्पत्ति दिति के निषेध में न करके स्वतन्त्र 'अद्' धातु से मानी जा सकती है। व्याकरण की दृष्टि से व्युत्पत्ति किसी तरह की जाय, 'अदिति' शब्द की व्याख्या में भेद नहीं पड़ता। अपने सर्वोच्च रूपमें अदिति अनन्त, असीम, आद्या सत्ता है जिस रूप में वह सब देवों की जननी है। पर साथ ही वह असीम अनन्त चेतना भी है जिस रूप में वह सब ज्ञानप्रकाशों को दुहने वाली "गौ" कहाती है। वैदिक निघण्टु में गोवाचक नामों में भी अदिति पढ़ा है, तथा वेद में 'गौ' रूप में अनेक जगह अदिति का सुन्दर वर्णन है। कई जगह चित्रा गौ, नाना प्रकार का प्रकाश देने वाली गौ कही गयी है। सो सब कुछ देने वाली 'गौ' रूप से भी हम अदिति की उपासना कर सकते हैं। फिर अदिति 'वाक्' है। 'वाक्' नामों में तथा 'पृथ्वी' के नामों में भी वैदिक निघण्टु में अदिति शब्द पढ़ा गया है। वाक् अर्थात् अभिव्यक्त करने वाली शक्ति अदिति है। ऋग्वेद के दशम मंडल में जो प्रख्यात आम्भृणी वाक् का सूक्त है जिसमें वह कहती है कि 'मैं ही रुद्र वसु आदित्यों के साथ चलती हूँ, मैं ही सब देवों को धारण करती हूँ इत्यादि........' वह सब जगत्संचालिका और जगत्प्रकाशिका अदिति माता ही कह रही है। और फिर अदिति के पृथ्वी होने का मतलब यह कि सब स्थूल अभिव्यक्ति तक की शक्ति भी वही दिव्य शक्ति है। इसलिये उपरिनिर्दिष्ट १-८६-१०

ऋचा में ठीक ही कहा है कि 'द्यौ अदिति है, अन्तरिक्ष अदिति है, माता अदिति है, पिता पुत्र भी वही है, सब देव अदिति हैं, पंचजन अदिति है, जो कुछ हुआ है और जो कुछ होगा वह सब अदिति है।' सो इस महामहिमामयी अदिति जगदम्बा के प्रति हम क्या करें, कैसे बर्तें ?

अनागसः

हम 'अनागस्' होवें। 'आगस्' शब्द का सामान्य संस्कृत में अर्थ है 'अपराध', 'दोष', या 'त्रुटि'। तो 'अन्-आगस्' का अर्थ हुआ अपराध न करने वाला, निर्दोष, त्रुटिरहित। यदि हम अनागस् होंगे तभी दिव्यमाता हमारे अन्दर अपना काम कर सकेगी। उनका कार्य हमारे अन्दर ठीक तरह से होने में रुकावट ये हमारे विविध प्रकार के आगस् ही होते हैं। इन्हें हमें अवश्य दूर करना होगा। वेद में 'आगस्' आदि पापवाचक शब्द उस अर्थ में ही प्रयुक्त नहीं किये जाते जिसमें हम नैतिक 'पाप' को समझते हैं। वैदिक ज्ञान के अनुसार मिथ्यात्व या मिथ्यागति के सिवाय पाप या 'आगस्' और कुछ चीज नहीं है। इसीलिये वैदिक परिपाटी में प्रत्येक पापवाचक शब्द (जैसे अघ, रपस्, अंहस्, कल्मष आदि) स्वयमेव रोगवाचक भी माना जाता है। क्योंकि रोग भी शरीर में हुआ मिथ्यात्व या मिथ्यागति ही तो है। एवं हमारे मन में या प्राण में या शरीर में जो कुछ भी मिथ्यागति होती है वह उस उस जगह का हमारा 'आगस्' है। हम मानते

है कि अश्रद्धा, भ्रम, संशय, अज्ञान, निराशा ये सब मनकी मिथ्या गतियां हैं; मन के 'आगस्' हैं। इनके होते हुए माता हमारे मन में अपना दिव्य कार्य कदापि नहीं कर सकती। इसी तरह राग द्वेष, काम क्रोध लोभ आदि प्राण की जबरदस्त मिथ्या गतियां हैं। जब तक हमारे प्राण इनसे शुद्ध नहीं हों, अनागस् नहीं हो जांय तब तक माता कैसे हमारे प्राणों द्वारा अपना दिव्य कार्य कर सकती है। फिर इसी तरह शरीर को अनागस् बनाने के लिये हमें रोग, व्याधि, आलस्य, कुचेष्टा आदि को शरीर से बिलकुल निकाल देना होगा तभी हमारा शरीर माता के योग्य बनेगा। दूसरे शब्दों में सब बेसुरापन ही आगस् है। माता के दिव्य ईश्वर स्वर से जब हम जरा भी अपने मन में, प्राण से या शरीर से विपरीत स्वर निकालते हैं या अपने अदिव्य स्वरको ही चलते देना चाहते हैं, वहीं 'आगस्' हो जाता है। हम अशुद्ध, विकृत, बेसुरे हो जाते हैं। यदि हम सचमुच अदिति के उपासक हों, सचमुच माता के होना चाहते हों तब तो हमें यह अनुभव होना चाहिये कि सभी जगह और सभी कालों में माता हमारे सामने हैं और हम जहां जरा भी मनकी क्रियामें या प्राणोंके व्यापार में या शरीर की चेष्टामें कुछ भी विकृत स्वर निकालने लगें, मिथ्या-गति करने लगें तो माताकी स्मृति हमें सावधान कर दे, बचा ले। जो हो, यदि हम माताके सच्चे पुत्र बनना चाहते हैं तो यह जरूरी है कि हम अपने सब अंगोंमें सर्वथा शुद्ध, निर्दोष, निर्मल, त्रुटिहीन, विकलतारहित होवें, हो जांय।

स्याम

हो जांय। हम ऐसे हो जांय। ऐसे हो जाना, यही हमारा काम है। यदि हम अनागम् हो जांय—बल्कि ऐसे होने का सच्चे भाव से यत्न ही करें--तो बाकी सब तो माता कर देगी। सो बस, सचमुच ऐसे हो जाना, हो जानेका सचमुच यत्न करना यही मनुष्यका भाग है, माताके पुत्रका काम है, उसका उद्योग है, पुरुषार्थ है। यह पुरुषार्थ हम करें। इसके लिए हम, इस सत्य को जानने वाले हम, आजसे ज्ञानपूर्वक यह संकल्प करें,— हम अदितिके लिए अवश्य 'अनागम्' होंगे, सर्वथा शुद्ध और निर्दोष बनेंगे, और आज से अटल रूपसे इसी विश्वास में रहें भी। क्या देखते नहीं कि, गहराई के अन्दर, इस पृथ्वी के सभी मानव प्राणी, चाहे वे इसे जानते हों या न जानते हों, अपनी गुहानिहित अन्तरात्माओं में अटल विश्वास के साथ, ऊर्ध्वमुखी पवित्र यज्ञाग्नि की तरह यही एक पवित्र अभीप्सा उठा रहे हैं, अदिति के लिये अनागम् हो जाने की निरंतर प्रार्थना कर रहे हैं, मानो वैदिक पावन वाणी में वे सतत जाप ही कर रहे हैं— अनागसो अदितये स्याम। तो हम ज्ञानपूर्वक ऐसा क्यों न करें ?

तीनों ओर

प्रत्येक भौतिक वस्तु की तीन तरफ़ होती हैं अथवा यों कहना चाहिये कि प्रत्येक वस्तु का त्रिविध विस्तार या प्रमाण (माप) होता है—लम्बाई में (की तरफ), चौड़ाई में (की तरफ़), मोटाई में (की तरफ़)। संसार में ऐसी कोई भी भौतिक वस्तु नहीं हो सकती जो इस प्रकार तीन तरफ से बनी हुई न हो। काल्पनिक तौर पर यह कहा जा सकता है, और केवल काल्पनिक तौर पर यह ठीक भी है, कि बिन्दु वह वस्तु है जिसमें लम्बाई चौड़ाई मोटाई कुछ नहीं है, कि रेखा वह वस्तु है जिसमें केवल लम्बाई होती है चौड़ाई मोटाई बिल्कुल नहीं होती, और धरातल या पृष्ठ (सतह) वह वस्तु है जिसमें केवल लम्बाई चौड़ाई होती है मोटाई बिल्कुल नहीं होती। पर भौतिक तौर पर कोई धरातल बिना मोटाई नहीं बन सकता, बारीक से बारीक खींची गई रेखा की भी कुछ चौड़ाई और कुछ न कुछ मोटाई होती ही है, बिन्दु भी जब भी वह भौतिक रूप में वस्तुतः बनाया जायगा तो उसकी कुछ न कुछ लम्बाई चौड़ाई मोटाई होगी ही। तात्पर्य यह कि ऐसी कोई वस्तु नहीं हो सकती जिसकी कि तीन तरफ न हों, जो तीन ओर से बढ़ी हुई न हो। हम लम्बाई के स्थान पर कभी ऊंचाई शब्द बोल सकते हैं, ऐसे चौड़ाई की जगह विस्तार या

फैलाव आदि शब्द बोले जा सकते हैं, मोटाई को कभी कभी गहराई जैसे किसी शब्द द्वारा प्रकट किया जाना अधिक ठीक हो सकता है। परन्तु यह बात सर्वत्र कायम रहती है कि प्रत्येक वस्तु का तीन ओर से प्रमाण (माप) किया जा सकता है चाहे उन तीनों तरफों या विस्तारों को हम किन्हीं भिन्न अवस्थाओं में कुछ भिन्न नाम से पुकारते हों।

यह जो कहा जाता है कि दिशायें छः होती हैं और अतएव प्रत्येक वस्तुकी छः दिशायें हो सकती हैं, वह भी इसीलिये है क्योंकि प्रत्येक वस्तु का त्रिविध विस्तार होता है और फिर ध्रुवीकरण होने से प्रत्येक विस्तार के दो ध्रुव, दो सिरे (छोर) होते हैं, जैसे ऊपर और नीचे, बायें और दायें (उत्तर और दक्षिण), आगे (पूर्व) और पीछे (पश्चिम)। पर प्रत्येक वस्तु के विस्तार (dimensions) तीन ही होते हैं, एक ऊपर नीचे की तरफ का, दूसरा आगे पीछेकी तरफका, तीसरा दायें बायेंका (या इधर उधरका)।

आत्मा की त्रिविध गति

जरा दूसरे रूपमें कहें तो संसारकी प्रत्येक वस्तुकी गति तीन तरफ की ही हो सकती है, या तो वह ऊपर नीचे गति करेगी, चाहे वह ऊपर जावे या नीचे, या वह दायें बायें गति करेगी चाहे दायें जाय या बायें, या आगे पीछे को गति करेगी चाहे आगे जाय या पीछे।

यह जो प्रत्येक वस्तु त्रिविध विस्तार वाली होती है और प्रत्येक वस्तु की जो त्रिविध ही गति हो सकती है इसका कुछ कारण है। उस कारण का निर्देश तो यथास्थान आ जायगा। पर इस वर्णन से आशा है पाठकों का मन आत्मा की गति को समझने के लिये भी तैयार हो गया होगा। आत्मा तो अभौतिक वस्तु है, उसको भौतिक तरीकों से समझ लेना सम्भव नहीं। तो भी हम भौतिक अवस्थाओं में रहने वाले लोग अपने भौतिक मन से उसकी तरफ अपनी पहुंच में भौतिक उदाहरणों से ही बहुत सहायता प्राप्त कर सकते हैं। जब हम किसी को महात्मा कहते हैं तो उसकी आत्मा के महान होने का अर्थ बेशक यह नहीं होता कि वह भौतिक तौर पर लम्बी चौड़ी और मोटी है, तो भी यह जरूर होता है कि उसकी आत्मा महान् अर्थात् विशाल, विस्तीर्ण, व्यापक है। 'महात्मा' शब्द से कहाने लायक वही महानुभाव है जिसकी आत्मा में इस प्रकार की कुछ महत्ता है। एक मेरे मित्र ने 'सन्त कौन है' इस विषय पर मुझे कुछ लिख भेजने को कहा था, जब कि वे 'सन्त सुधा' नामक एक पत्रिका प्रारम्भ करने लगे थे। मैंने उन्हें तीन वाक्य लिख भेजे थे। उन्हें यहां उद्धृत कर देना सप्रयोजन होगा। 'सन्त' के स्थान पर 'महात्मा' शब्दका प्रयोग करते हुए वे तीन वाक्य निम्न हैं:—

"महात्मा वह है जो ऊँचाई में सत्यलोक की ओर बढ़ता है, उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रकाशमान अवस्थाओं में से गुजरता

हुआ 'ऋतंभरा प्रज्ञाओं' को प्राप्त करता हुआ ऋतस्वरूप को पहुंचता है।

"महात्मा वह है जो गहराई में अन्दर अन्दर पैठता हुआ और खोजता हुआ अपने अन्तरात्मा को पा लेता है, और उसका मन, प्राण और शरीर, उसकी सब बाह्य और आन्तर क्रियायें, इसी अन्तरात्मा द्वारा संचालित होने लगती हैं।

"महात्मा वह है, जो विस्तार में अपने को फैलाता हुआ एक-एक प्राणी और एक-एक जीव में, भूतमात्र में अपने आपको पहिचानने और अनुभव करने लगता है और सब संसार के साथ अपनी एकता कर लेता है।"

मतलब यह है कि आत्मा भी तीन ओर गति या उन्नति करता है, ऊंचाई में, गहराई में, विस्तार में। इन तीनों ओर ही उन्नति करनेसे, बढ़नेसे आत्मा महान होता है। यदि कोई आत्मा इनमें केवल एक तरफ—जैसे केवल ऊंचाई या गहराई में—बढ़ता है तो वह उन्नति ठीक प्रकार की नहीं होगी। तब समझना चाहिये कि वहाँ कुछ गड़बड़ है। स्वस्थ सच्ची उन्नति तीनों तरफ ही होगी, ऐसे ही जैसे कि एक शिशु जब भौतिक रूप में बढ़ता है तो वह लंबाई चौड़ाई मोटाई तीनों प्रकार से ही बढ़ता है।

हम जानें या न जानें पर असल में हम सभी ऊपर ऊपर पहुंचना चाहते हैं, गहराई में अन्दर से अन्दर प्रविष्ट होना

चाहते हैं, और विस्तार में परे से परे पहुंचना चाहते हैं। आत्मा क्या चाहता है, उसकी अभीप्सा क्या है यह यदि हम देख सकें तो हमें पता लगेगा कि हमारा आत्मा उड़ना चाहता है, ऊपर ऊपर अनन्त ऊँचाई तक पहुंचना चाहता है, उसके लिये वह कशमकश कर रहा है। आत्मा अन्दर की तरफ, भीतर भीतर घुसकर आन्तरतम को पहुंचना चाहता है, वहां उसका कोई है जिसे बिना पाये उसे कल नहीं पड़ सकती, इसलिये वह भीतर से भीतर घुसना चाहता है। एवं विस्तार में फैलाव चाहता हुआ वह दूर से दूर अनन्त दूरी तक पहुंच जाना चाहता है, वहां बिना पहुंचे उसे विश्राम नहीं मिल सकता।

जब हम बच्चे थे तो यह पूछने पर कि परमात्मा कहां रहता है हमें लोग आकाश की ओर अंगुली करके बताते थे परमात्मा ऊपर है, हम पूछते थे कि क्या बादलों में है, हमें बताया जाता था कि वह बादलों से भी ऊपर है। पीछे ज्ञान की पुस्तकों में यह लिखा देखा और सुना भी, कि परमेश्वर भीतर है, हृदय के भीतर है। गीता में कहा है 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'। उपनिषदों में तो जगह जगह हृदय-गुहा का वर्णन आता है कि उस गंभीर गुहा में परमेश्वर छिपा हुआ है, 'गुहाहितं' 'गह्वरेष्ठम्', उसे अन्दर ढूंढो, गुहा के अन्दर प्रविष्ट होओ। कहते हैं कि स्वामी रामतीर्थ जब परमेश्वर के लिये व्याकुल

थे तो किसी ने कह दिया कि 'उसे कहां ढूंढते फिरते हो वह तो तुम्हारे हृदय में है, तुम्हारे अन्दर ही है' तो रामतीर्थ छुरी उठा कर अपने हृदय को चीरने तैयार हो गये थे। अस्तु, इसी तरह यह भी ज्ञानियों से सदा सुनने को मिलता है कि परमात्मा सब जगह फैला हुआ है, भूत भूत में रमा हुआ है। असल में ये तीनों बातें ही सही हैं। सचमुच ही परमात्मा ऊपर है, अन्दर है, और सर्वत्र फैला है। और इसीलिये हमारा आत्मा उस अपने परम आत्मा को पाने के लिये इन तीनों तरफ गति करता है, इन तीनों तरफ बढ़ना चाहता है। हम सभी चाहे इस बात को अनुभव करें या न करें, पर यह सच है। सचमुच हमारा आत्मा तीनों तरफ बढ़ना चाहता है, फैलना चाहता है, बल्कि इन तीनों तरफ बढ़ने को तड़फाया सा रहता है।

यदि यह सच है तो फिर हम ऊपर, बहुत बहुत ऊपर स्थित उस अपने परम आत्माको एकदम पहुंच क्यों नहीं जाते ? अन्दर सुगभीर गहराई में स्थित परम प्रभु को एकदम ढूंढ कर उससे एक क्यों नहीं हो जाते ? सब भूतों में बिस्तृत अपने परम देव को हम सर्वत्र फैल कर आज ही प्राप्त क्यों नहीं कर लेते ?

वैदिक प्रार्थना

इसका कारण यह है कि तीनों तरफ ही रुकावटें हैं, तीनों तरफ हम बंधे हुए हैं, किन्हीं बन्धनों या पाशों से जकड़े हुवे

हैं। ऐसे बंधे हैं कि न हम खुलकर ऊपर यथेच्छ उठ सकते या उड़ सकते हैं, न गहराई में तल तक पैठ सकते हैं, न अनन्त रूप से फैल सकते हैं। इसीलिये हमारी मानव आत्मायें — हम सब मानव जीव — वैदिक ऋचा में प्रार्थना कर रहे हैं :—

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मद्
अवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
अथा वयमादित्य व्रते तव
अनागसो अदितये स्याम ॥

ऋ० १-२४-१५ । यजु० १२-१२ । साम पू० ६-३-१०-४ ॥
अथर्व० ७-८३-३, अथर्व० १८-४-६९ ।
तैत्ति० सं० १, ५, ११, ३; ४, २, १, ३ ।

पदपाठ

उत् । उत्तमं । वरुण । पाशम् । अस्मत् ।
अव । अधमं । वि । मध्यमम् । श्रथाय ।
अथ । वयम् । आदित्य । व्रते । तव ।
अनागसः । अदितये । स्याम ।

शब्दार्थ

(वरुण) हे वरुण ! (अस्मद्) हम से, हमारे (उत्तमं पाशम्) ऊपर के पाश को, बंधन को (उत् [श्रथाय]) ऊपरको खोल दे। (अधमं [पाशम्]) नीचेके [बन्धनको] (अव श्रथाय) नीचेकी तरफ खोल दे, ढीला कर दे। (मध्यमं [पाशम्]) बीचके [बन्धन को] (वि श्रथाय) विशेषतया खोल दे। (अथ) तब (वयं) हम, (आदित्य) हे आदित्य ! (ते व्रते) तेरे व्रतमें रहते हुवे (अनागसः) निष्पाप, निर्दोष (अदितये) अदितिके लिये (स्याम) हो जायें।

यह प्रार्थना क्या है, यह मानव आत्माओं की तड़पन है कि वे बन्धनों से, तीनों बन्धनों से किसी तरह छुटकारा पाकर अदिति की निःसीमता, अनन्तता, अमित बंधनमुक्तता में स्वतन्त्र हो विचर सकें।

शुनःशेप की गाथा

पाठक देखेंगे कि यह बड़ी अति प्रसिद्ध (चारों वेदोंमें पायी जाने वाली, अथर्ववेद में एक के भी बजाय दो बार गायी गयी) ऋचा है जिसके कि अन्तिम चरण को हम अपना आदर्श वाक्य करके अपना चुके हैं। पीछे के गाथा-काल में जब कि गाथा द्वारा तत्त्वों के वर्णन करने की प्रथा थी वेद के इस प्रसिद्ध मंत्र से या इन सूक्तों से संबद्ध भी एक गाथा कही गयी है। कहते हैं कि

तीन बन्धन

पर ये ऊपर, मध्य और नीचे के बन्धन क्या हैं? यह तो ऊपर मोटे तौर पर कह दिया गया है कि ये मन, प्राण और अन्न के बन्धन हैं या इन तीनों की अनृतगति रूप पाप के बन्धन हैं। पर इसे और स्पष्ट किये जाने की जरूरत है।

हम ऊपर सिर में, मध्य में हृदय में और नीचे मूलाधार (नाभि के भी नीचे) में बंधे हुए हैं। ऊपर का उत्तम बन्धन मन का है, बीच का मध्यम बन्धन (सूक्ष्म) प्राण का है और नीचे का अधम बन्धन (स्थूल) शरीर का है। आत्मा (मानव आत्मा) को परिमित, सीमित अतएव बद्ध करनेवाले ये मन प्राण शरीर ही हैं। मनुष्य का ज्ञान, उसकी प्रकाश की तरफ, सत्य की तरफ ऊर्ध्वगति मन द्वारा बंधी हुई है। मन का स्थान सिर में है। अतएव यह उत्तम बन्धन कहाता है। इसे सत्त्व का बन्धन, सात्त्विक बन्धन भी कह सकते हैं। सत्त्व ने या मन ने मानसिक शरीर द्वारा या आहंकारिक कारणशरीर द्वारा आत्मा को बांध रखा है। मध्य का बन्धन प्राण का है, इसने भावों, भावावेशों, उद्वेगों, आवेगों, रागद्वेषों द्वारा हृदय में हमें बांध रखा है। अशान्तिमय प्राणों के इस बन्धन को राजसिक बन्धन या सूक्ष्म शरीर का बन्धन भी कहा जा सकता है। अधम बन्धन बिलकुल नीचे भौतिक या 'अन्न' का बन्धन है जिसने अपनी जड़ता से ज्ञान

और जीवनकी परिमित शक्तिको भी बांध दिया और हमें अत्यन्त सीमित कर दिया है। यह तामसिक बन्धन या स्थूल शरीर का बन्धन है।

यहां हम यह भी देख सकते हैं कि वस्तुओंके त्रिविध विस्तार का मन, प्राण, शरीर से क्या सम्बन्ध है। यह हम जानते हैं कि स्थावर योनि (वृक्ष वनस्पति) अन्नप्रधान है, इनमें प्राण और मन विकसित नहीं हुआ है, तिर्यक् योनि (पशु पक्षी) प्राणप्रधान हैं, ये अन्न से तो ऊपर हुए हैं पर इनमें भी मन विकसित नहीं हुआ है। मानवयोनि मनःप्रधान है, मनुष्य अन्न प्राण से ऊपर उठे हैं और इनमें मन भी विकसित हुआ है। इसलिये शरीरप्रधान स्थावरों में मुख्यता मोटाई है, चौड़ाई (विस्तार) और लम्बाई (ऊंचाई) इनमें विकसित नहीं हुई। पर प्राणप्रधान तिर्यग्योनि में मुख्य गुण चौड़ाई (विस्तार) है, लम्बाई (ऊंचाई) इसमें भी विकसित नहीं हुई। तिर्यक्गति का अर्थ संस्कृत में होता है तिरछी, आड़ी, दिगन्तसम (Horizontal) गति। वेद में तथा संस्कृत साहित्य में प्राण की गति या आकृति तिरश्चीन मानी गई है इसीलिए पशु पक्षी पड़ी हुई, चौड़ाई के रुख अवस्था में रहते हैं। पर मनःप्रधान मानव प्राणी खड़ा हो गया है, लम्बाई या ऊंचाई के रुख हो गया है। वृक्ष वनस्पति का मेरुदण्ड भूमि से खड़ा है। पशु पक्षियों का मेरुदण्ड प्राण के द्वारा तिर्यक्,

पड़ा हुआ त्रिभुजसम हो गया है। और मनुष्य का मेरुदण्ड मन के आगे आने से खड़ा, लम्बाई की ओर हो गया है। मतलब यह कि अन्न (स्थूलभूत) का गुण मोटाई है, प्राणका चौड़ाई और मन का ऊंचाई। इसलिए हमारे इस जगत् की सब चीजें लम्बाई चौड़ाई मोटाई इस त्रिविध विस्तारवाली बनी हुई हैं। और इसीलिए मन ऊपर की गति को बाँधता है (और यदि खुल जाय तो ऊपर के रास्ते को खोलता है), तथा प्राण और अन्न मध्यम और नीचे की गति को बांधते हैं (और यदि खुल जांय तो इन दोनों मार्गों के खोलने वाले बन सकते हैं)।

पर बात यह है कि इन बन्धनों में भी कुछ मजा है इसलिए बहुत से मानव प्राणी भी इन बन्धनों में अपने एक निम्न कोटि के सुख में रह रहे हैं। पर जहां आत्मा जाग चुका है, जहां उच्च सुखकी प्यास लग चुकी है वहां ये तीनों बन्धन उत्तरोत्तर असह्य होते जाते हैं। अन्तमें ऐसी अवस्था आ जाती है जब उनका आत्मा तीनों तरफके इस आवरणको, ढकनेको, बन्धनको खोलने, भेदन करने और तोड़ देने के लिए व्यग्र हो जाता है।

तीन प्रकार का योग

यह तो कहने की जरूरत नहीं कि ऐसी अवस्था लानेके और इसे पार करने के जो साधन हैं उन्हें योगसाधन नाम से पुकारा

जाता है। योग का जो एक प्रकार से ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग यह त्रिविध विभाग किया जाता है वह हमारे इस प्रकरण में बहुत उपयुक्त है। ज्ञानयोग है जिससे कि ऊपर का बन्धन खुलता है। ज्ञान की सत्त्वगुणी वस्तु होने से ऊर्ध्वमुखी गति होती है। ज्ञान की उपासना करने से अन्तमें आत्मा ऊपरके बन्धनको खोल ऊपर चढ़नेका रास्ता बना लेता है और ऊपर एक से एक बड़े प्रकाशमय लोकों में पहुंचता हुआ, ज्योतिष्मती ऋतंभरा आदि प्रज्ञाओं को प्राप्त करता हुआ, श्रीअरविन्द की परिभाषाओंके अनुसार उच्च मानस, प्रकाशित मानस, स्फुरणात्मक मानस, अधिमानस से होता हुआ अतिमानस तक पहुंच जाता है।

इस ऋचा में जो ऐसा कहा गया है कि 'ऊपर के बन्धन को ऊपर की तरफ खोल दे' (उत्तमं पाशं उत् श्रथाय) इसका आशय अब पाठकों को स्पष्ट हो गया होगा। क्योंकि यह ऊपर ऊपर जाकर मानसिक चेतनासे ऊपर, मानवीय चेतनाको अतिक्रमण कर ऊपर अतिचेतनमें पहुंच जाता है। तो बन्धनको ऊपर की तरफ खोलनेका मतलब यह हुआ कि उसके खुलनेसे ऊपरकी तरफ गति हो सके।

एवं भक्तिमार्ग द्वारा हृदयका मध्यवर्ती बन्धन खुलता है। यह प्रेम का मार्ग है। प्रेम की साधना द्वारा हम हृदय की गहराईमें रहने वाले अपने प्रेममय अन्तरात्मा को पावें, यही संक्षेप में भक्ति-साधना है। उसे अन्दर पाने से फिर वह बाहर भी पाया जाकर

हम आर्य और अदिति के लिये अनागस् हो जाँय'। मन, प्राण, देह नष्ट नहीं होते किन्तु वे बदल जरूर जाते हैं, इनका दिव्य रूपान्तर हो जाता है। ये अब दिव्य ऋत के, दिव्य नियम के आधीन हो जाते हैं, अपने अदिव्य नियमों को छोड़ देते हैं। मन के बन्धन के खुलने का अर्थ यही है कि मन तब अपने मानसिक (अदिव्य) नियम को छोड़ देता है, उस नियम-बन्धन से छुटकारा पा जाता है। इसी तरह प्राण और देह भी अपने प्राणगत और दैहिक नियम के बन्धन से मुक्त हो दिव्य नियम में, आदित्य के ऋत में चले जाते हैं। ये सब एक अबद्ध, असीम आत्मा के नियम में आ जाते हैं, अन्य सभी नियमों से मुक्त हो जाते हैं।

वैसे तो दिशायें अनन्त हैं, जो जिधर चाहता है उधर ही जाता दीखता है। पर सूक्ष्मतया देखने से मुख्य छः दिशायें हैं जिनका हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। जब तक मनुष्य सचमुच में मुमुक्षु नहीं होता तब तक वह बद्ध रहता छओं दिशाओं में गति करता है अर्थात् वह ऊपर जाता है तो नीचे भी जाता है, इधर (उत्तर) जाता है तो कभी उधर (दक्षिण) भी जाता है, सामने जाता है तो पीछे भी हटता है। पर मुमुक्षु हो जाने पर मानो उसकी तीन ही दिशायें हो जाती हैं। वह ऊपर ही जाता है, उत्तरायण पथ का ही अवलंबन करता है, आगे (प्राङ्) ही

जाता है, बन्धन तोड़ने के लिये वह इन तीनों ओर ही जाता है। पर बन्धनमुक्त हो जाने पर ये तीनों दिशायें भी एक हो जाती हैं, यों कहना चाहिये कि वह दिशाओं की दुनियां से ही परे आदित्यलोक का हो जाता है, जहां से सब दिशा, अनन्तों दिशा, उत्पन्न होती हैं वहां का वह हो जाता है। अतः एक दिशा का न रह, अनन्त का, असीम का, अदिति का हो जाता है।

आगस्, पाप तभी तक हो सकते हैं, होते हैं जब तक कि मन, प्राण और देह बन्धनमुक्त नहीं होते, जब तक कि ये अपने नियमों से चलते हैं अतएव अनृत गतियां भी करते हैं, जब तक ये आदित्य के व्रत में नहीं आ जाते। तीनों पाशों को तोड़ आदित्य के व्रत में आ जाने से हम 'अनागस्' हो जाते हैं, हमारे मन, प्राण, शरीर आत्मप्रेरित दिव्यनियमानुसार चलते हुए बिलकुल अनागस्, शुद्ध, निष्पाप, त्रुटिरहित, अविकल, पूर्ण कार्य करने वाले हो जाते हैं।

तब हम वस्तुतः 'अदिति के लिये' हो जाते हैं। अदिति जो बन्धनरहित मुक्तिस्वरूपा है, असीम अनन्त देवजननी जगज्जननी है उसके 'अमृत पुत्र' हो जाते हैं, अमृत पुत्र होकर रहते हैं।

शक्ति के आश्रयस्वरूप एक परम पुरुष को भी स्वीकार करते हैं और हम विश्वास करते हैं कि परम पुरुष की ही अनुमति लेकर, उन्हीं के अन्दर निहित सत्य-समूह को रूपान्वित करने के लिये भागवती शक्ति कर्म में प्रवृत्त होती है।

श्रीअरविन्द ने अपनी 'माता' नामक पुस्तक में आरम्भ में ही कहा है कि पूर्णयोग की सिद्धि प्राप्त करने के लिये दो वस्तुओं की आवश्यकता है—नीचेसे भागवत जीवन प्राप्त करनेके लिये साधक की आन्तरिक अभीप्सा ऊपर उठनी चाहिये और ऊपर से भागवती शक्ति की करुणा या प्रसाद का अवतरण होना चाहिये। साधक की अभीप्सा पूर्ण शुद्ध तथा एकमात्र भगवन्मुखी होनी चाहिये। इस अभीप्सा (Aspiration) के स्वरूप को हम एक ओर आकांक्षा या कामना (Ambition or desire) से और दूसरी ओर व्याकुलता से अलग करके समझने की चेष्टा करेंगे। आकांक्षा या कामना हमारी प्राणमय सत्ता की अभिव्यक्ति है, हमारा चित्तविक्षोभ है। परन्तु अभीप्सा सूचित करती है हमारे हृत्पुरुष का जागरण। आकांक्षा अहंमुखी होती है चाहे वह कितने ऊँचे प्रकारकी क्यों न हो। हम धन चाहते हैं, मान चाहते हैं, अपना अधिकार, पदप्रतिष्ठा चाहते हैं—यह सब हमारे क्षुद्र अभिमानमय 'अहं' की तृप्तिके लिये ही होता है। परन्तु अभीप्सा अहंकार का समूल नाश करती है और एकमात्र भगवान् के प्रति

ही हमें आकृष्ट करती है, भगवान् को ही केवल जीवनके ध्रुवतारा के रूप में निर्दिष्ट करती है, परन्तु भगवान्को पानेके लिये साधक के मन में बहुत बार एक प्रकार की अस्थिरता या व्याकुलता का भाव उत्पन्न होता है। इस अस्थिरता का मूल कारण होता है भागवती शक्तिके ऊपर पूर्ण निर्भरशीलता का अभाव। अभीप्सा सब प्रकार के अधैर्य और अस्थिरता से मुक्त होनी चाहिये। भगवान के ऊपर पूर्णरूपेण निर्भरशील होकर, अन्तरमें अभीप्सा की निष्कम्प ज्योति प्रज्वलित करके साधक को धीर-स्थिर भाव से दिव्य जीवन की प्राप्ति के मार्ग में अग्रसर होना चाहिये।

भागवत जीवन प्राप्त करने के लिए साधककी अटूट अभीप्सा अत्यावश्यक, अपरिहार्य है, परन्तु वही पर्याप्त नहीं है। मांकी करुणा या प्रसाद के बिना सिद्धि कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। संसार के प्राय: सभी धर्मों ने भगवत्प्रसाद की आवश्यकताको स्वीकार किया है। सिद्ध महापुरुष अपने सारे अन्त:करणसे यह अनुभव करते हैं कि अनन्तका सामीप्य प्राप्त करनेके लिए सीमाबद्ध जीवकी अकेली चेष्टा या तपस्या कभी पर्याप्त नहीं हो सकती चाहे वह तपस्या कितनी ही कठोर तथा निरवच्छिन्न क्यों न हो। परन्तु पूर्णयोगकी साधना में भगवत्प्रसाद की आवश्यकता सबसे अधिक है। इस योग में भगवान्का साक्षात्कार प्राप्त करना ही एकमात्र लक्ष्य नहीं है; पूर्ण-योगी चाहता है भगवदनुभूतिकी सम्पदाको बाहर में प्रकट करना,

आत्मनिवेदन के फलस्वरूप यदि कोई पूर्णता प्राप्त भी हो तो वह होगी यंत्र जैसी पूर्णता (mechanical perfection), किन्तु आध्यात्मिक पूर्णता नहीं। इसके बाद मां के प्रति साधक का आत्मसमर्पण होना चाहिये निश्शेष और सर्वांगीण। बहुत बार ऐसा देखा जाता है कि साधक के अन्तःपुरुष ने तो माँ के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया है, यहां तक कि उसके मनने भी आत्मोत्सर्ग कर दिया है, किन्तु उसकी प्राणमय सत्ता अपनी भोग-पिपासा का उत्सर्ग करना नहीं चाहती, अथवा उसका स्थूल शरीर अपने चिरपरिचित अभ्यास के अनुसार ही तथा अपने अंध संस्कार के वश होकर ही चल रहा है। ऐसी अवस्था में आधार का सम्यक् रूपान्तर कदापि नहीं हो सकता। जीवन के सभी अंगों को, सत्ता के सभी स्तरों को, प्राण के सभी स्पन्दनों को, शरीर की समस्त गतिविधियों को निःसंकोच माँ के निकट पुष्पांजलि की तरह उत्सर्ग कर देना होगा, केवल तभी पूर्ण रूपान्तर का स्वप्न सफल हो सकता है।

मातृ-करुणा प्राप्त करने की पहली शर्त है आत्मसमर्पण, फिर उसके बाद चाहिये आत्मोन्मीलन और सद्सद्विवेक। माँ की शक्ति को अपने अन्दर कार्य करने के लिये आवाहन करके उसके ऊपर अविद्याजनित कोई शर्त लाद देने से काम नहीं चल सकता; ऐसी मांग पेश करने से काम नहीं चल सकता कि

माँ को हमारी पसंद के अनुसार निर्दिष्ट पथ या निर्दिष्ट विधि से ही कार्य करना होगा। ऐसा करने से साधना का उद्देश्य ही व्यर्थ हो जायगा। माँ अपनी इच्छा से कार्य करेंगी, अबाध स्वच्छन्द गति से करेंगी। तभी हमारा आत्मसमर्पण शुद्ध हो सकेगा और साधना भी सहज और अबाध गति से अग्रसर हो सकेगी। आत्मोन्मीलन का अर्थ है सत्ता के विभिन्न अङ्गोंको माँ की शक्ति और ज्योति की ओर खोल देना जिसमें माँ की कृपा से आधार का सर्वाङ्गीण रूपान्तर साधित हो सके। एक ओर या सत्ता के एक अंश में माँ की ओर अपने को खोलकर दूसरी ओर विरोधी शक्तियों के लिए द्वार उन्मुक्त कर देना सिद्धि को अत्यन्त दूर भेज देना, व्याघात डाल देना है। जो मंदिर माँ के लिए उत्सर्ग किया गया है उस के अन्दर सत्य और मिथ्या, अंधकार और प्रकाश एक साथ कभी नहीं रह सकते। इसी कारण साधना में सदा सर्वदा सजग रहने की आवश्यकता है, विचार-विवेक रखने की आवश्यकता है, सुदृढ़ संकल्प रखने की आवश्यकता है जिस में केवल सत्य को ही ग्रहण किया जाय और मिथ्या का सब प्रकार से त्याग किया जाय। माँ की कृपा से जो ज्योतिर्मय सत्य ऊपर से नीचे उतरे केवल उसी को वरण करना चाहिये तथा जो कुछ अनृत है,—मनके संस्कार, मतामत, बौद्धिक रचनाएं आदि, प्राण की भोगवासनाएं, मांगें, संकीर्णताएं,

गर्व, ईर्ष्या आदि तथा शरीर की मूढ़ता, तामसिकता, संशय, अविश्वास, परिवर्तन की अनिच्छा इत्यादि—इन सबको निर्मम होकर समूल नष्ट कर देना चाहिये।

आत्म-समर्पण और व्यक्तिगत चेष्टा

हमने पहले ही कहा है कि पूर्ण आत्म-समर्पण तथा आत्मोन्मीलन के द्वारा भागवती शक्ति को आधार के अन्दर अव्याहत रूप से कार्य करने देने पर ही दिव्य रूपान्तर साधित हो सकता है। इसी कारण पूर्णयोगी की चेष्टा होगी अपनी व्यक्तिगत तपस्या के बदले धीरे-धीरे भागवती शक्ति को उनकी इच्छा के अनुसार अपने अन्दर कार्य करने की सुविधा देना। तो क्या आत्मसमर्पण-योग में साधक की अपनी चेष्टा की कोई भी आवश्यकता नहीं? यह प्रश्न यहां पर बहुतों के मन में उठ सकता है। परन्तु इस प्रश्न का उत्तर क्या हो सकता है, इसका अनुमान करना उतना कठिन नहीं। आत्मसमर्पण-योग के साधक का चरम लक्ष्य है ऐसी एक अवस्था प्राप्त करना जिस में व्यक्तिगत चेष्टा की कोई आवश्यकता न रहे, उसके लिये बिल्कुल अवकाश न रहे, जिसमें साधक दिव्य शक्ति की अनन्तमुखी कर्मधारा का केवल केन्द्र बन जाय। किन्तु इस चरम अवस्था को प्राप्त होना केवल तभी सम्भव होगा जब साधक का समस्त आधार सम्यक् रूप से शुद्ध और पवित्र हो जायगा, जब उसकी

समग्र सत्ता दिव्य प्रतिमा के रूप में परिणत हो जायगी। इससे पहले व्यक्तिगत चेष्टा और निरन्तर जागरूकता का अभाव होने पर असावधानी के किसी भी मुहूर्त्त में विरोधी शक्ति आकर साधक को प्रभावान्वित कर सकती है। इस कारण जब तक निम्न प्रकृति सक्रिय हो तब तक साधक की व्यक्तिगत चेष्टा की आवश्यकता है। इस व्यक्तिगत चेष्टा का प्राण है अभीप्सा, परिवर्जन और समर्पण। एक ओर पूर्णयोगी जिस तरह भगवान् को ही अपने भीतर वास्तविक साधक के रूप में अनुभव करेगा और उन्हीं की शक्ति को अबाध गति से सक्रिय करने की चेष्टा करेगा, इसी तरह दूसरी ओर वह आधार के पूर्ण शुद्ध हो जाने के ठीक अन्तिम मुहूर्त्त तक निःशेष आत्म-समर्पण करने की चेष्टा करेगा, मिथ्या का मूलोच्छेद कर डालने का प्रयत्न करेगा और अपने अन्तःकरण में दिव्य जीवन प्राप्त करने की अभीप्सा को सदा जीवित-जागृत बनाये रखेगा।

जीवन का रक्षा-कवच

विपत्संकुल जीवन-पथ में एकमात्र अव्यर्थ रक्षा-कवच है माँ भगवती की कृपा। यदि माँ की कृपा प्राप्त हो जाय तो फिर साधक जीवन के सभी आँधी-तूफानों के अन्दर से होकर, सभी दुर्दिनों और संकटों से होकर निर्भय अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकता है। इस कृपा को प्राप्त करने का एकमात्र

उपाय है अपने अन्तःकरण को श्रद्धा, अनन्यता और आत्मोत्सर्ग के भाव से पूर्ण कर रखना। हमारी श्रद्धा होनी चाहिये शुद्ध, सरल और निर्दोष। बहुत बार श्रद्धा अहंकार और कामना द्वारा कलुषित हो जाती है; हमारा मन और प्राण गर्व और आत्मम्भरिता से फूल उठता है और हम अपनी निम्न प्रकृति की तुच्छ भोगतृष्णा को तृप्त करने के लिये मांग पेश करते हैं। वास्तविक श्रद्धा अन्तःपुरुष की सम्पदा है। वह विशुद्ध श्रद्धा को प्राप्त करने पर हमारे जीवन का एकमात्र व्रत होगा दिव्य कर्म और दिव्याभिव्यक्ति; हमारे लिये आकांक्षाकी एकमात्र वस्तु होगी दिव्य चेतना की शक्ति, शान्ति, ज्योति और आनन्द तथा देह-प्राण-मन का दिव्य रूपान्तर; हमारी एकमात्र मांग होगी पृथ्वी के ऊपर अतिमानस सत्यकी शाश्वत प्रतिष्ठा। इसी प्रकार हमारी अनन्यता और आत्मोत्सर्ग भी निर्मल और अखण्ड होना चाहिए। अपनी सत्ता के किसी अंश को, अपनी साधना की किसी शक्ति को हमें अहं के लिये अथवा अन्य किसी अदैवी शक्ति के लिये सुरक्षित नहीं रख छोड़ना चाहिये। हमारी श्रद्धा, अनन्यता और समर्पण जितने परिमाण में शुद्ध और पूर्ण होंगे उतने ही परिमाण में मां की कृपा और अभय-वरदान को हम प्राप्त कर सकते हैं। मां की अभयवाणी प्राप्त कर लेने पर कोई भी बाधा-विपत्ति, कोई भी विरोधी शक्ति, वह चाहे जितनी भी दुर्धर्ष क्यों न हो, साधक का स्पर्श तक नहीं कर सकती, बल्कि मां की कृपा से अटूट सुयोग

बन आता है, व्यर्थता-दुर्बलता सार्थक अमोघ सामर्थ्य के रूप में परिणत हो जाती है। क्योंकि मां की कृपा के अन्दर प्रकाशित होता है विधाता का सर्वजयी अव्यर्थ विधान—परमेश्वर की अनुमति।

ऐश्वर्य और आध्यात्मिकता

धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य, प्रभाव-प्रतिष्ठा इत्यादि के विषय में प्रचलित मत यह है कि ये सब आध्यात्मिक जीवन के एकदम विरोधी हैं—ये केवल साधना के विघ्न, रास्ते के कांटे हैं। इसी कारण हमारे देश के बहुत से सच्चे योगी और साधक ऐश्वर्य का मार्ग एक किनारे छोड़कर आगे चले गये। उन्होंने बहुमूल्य मणि-मुक्ता को 'लोष्ट्रवत्' समझा, सोना और मिट्टी, मिट्टी और सोना इन दोनों को एक और अभिन्न माना। हमने यह सीखा है कि संन्यास-मूलक निवृत्ति-मार्ग ही भगवान् को प्राप्त करने का अत्यन्त प्रशस्त पथ है, दरिद्रता और रिक्तता ही इस पृथ्वी पर आध्यात्मिकता की श्रेष्ठ अवस्था है। धन-ऐश्वर्य-विषयक ऐसा मनोभाव मन के एक अत्यन्त सुन्दर निर्लिप्त भाव को सूचित करता है, ऐकान्तिक और विशुद्ध भगवत्प्रेम का परिचय देता है। किन्तु जो लोग केवल भगवान् के प्रेमी-पुजारी न हो उनके कर्मी साधक होना चाहें, जो लोग मां के शक्तिप्रवाह के केन्द्र बनना

चाहें, जो लोग दिव्य जीवन के शिल्पी बनना चाहें, उन्हें यह याद रखना चाहिये कि इससे भी कोई बड़ी बात है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संन्यासमूलक निवृत्ति के मूल में एक बहुत बड़ा सत्य वर्तमान है तो भी वह सत्य अर्धसत्य है, विकलांग और अपूर्ण है। भोगैश्वर्य का त्याग कर दारिद्र्य-व्रत को ग्रहण करना एक बड़ी बात है, परन्तु उससे भी बड़ी बात है चित्त की समता। हम यहां पहले इसी विषय में दो-एक बातें कहेंगे।

अर्थ और ऐश्वर्य के विषय में श्रीअरविन्द का मत बड़ा ही अपूर्व और नवीन है। श्रीअरविन्द की दृष्टि कितनी गम्भीर, व्यापक और समन्वय-मूलक है इसका ज्वलन्त दृष्टान्त हम यहीं पाते हैं। उनका कहना है कि अर्थ या धनबल एक विश्वजनीन शक्ति की ही स्थूल अभिव्यक्ति है। वह शक्ति माँ की ही शक्ति है; प्राण और जड़ के स्तर में वह शक्ति धन-सम्पत्ति के रूप में प्रकट हुई है; इसी कारण हमारे पार्थिव जीवन के परिपूर्ण विकास के लिये उसकी अत्यन्त आवश्यकता है। अतएव धन स्वयं किसी अनर्थका कारण नहीं हो सकता। अनर्थका कारण है अनधिकारी के हाथों अर्थ का दुर्व्यवहार। पृथ्वी की सारी धन-संपदा वास्तव में माँ भगवती की है। मनुष्य तो केवल उस मातृ-सम्पदा का भंडारी और रक्षक है, उसका असली मालिक नहीं। इसलिये कमाये हुए सब धन को माँ की पूजा में और पृथ्वी पर माँ का

उद्देश्य पूरा करने में लगा देना ही मनुष्य का सबसे बड़ा कर्तव्य है। इस कर्तव्य को ठीक-ठीक पूरा करने की जिसे योग्यता है, बस, वही धन प्राप्त करनेका सच्चा अधिकारी है। आज अधिकांश धनी मनुष्य धन प्राप्त करने के सच्चे अधिकारी नहीं हैं, धनपर उनका अपना अधिकार है भी नहीं, बल्कि धन ही उनके ऊपर अपना अधिकार जमाये हुए है। अपने धन के दास होने के कारण वे अपने धन को अपने आत्म-कल्याण में, आत्मोन्नति में नहीं खर्च करते, माँ भगवती का उद्देश्य पूरा करने में नहीं लगाते, बल्कि उन सब दानवीय शक्तियों की तृप्ति के लिये व्यय करते हैं जिन्होंने अपनी चरितार्थताके लिये उन धनशक्तियोंको अधिकृत कर रखा है। हम लोग साधारण तौर पर अपने धन का व्यवहार करते हैं अपने क्षुद्र 'अहं' की पूजा के लिये—भोग की लालसा और मान-प्रतिष्ठा की आकांक्षा को तृप्त करने के लिये। फलस्वरूप हमारा धन हमारे आत्मा की अभिव्यक्ति का मार्ग रोककर खड़ा हो जाता है। परन्तु यह दोष अर्थका नहीं है, यह दोष तो हमारी अज्ञानता का, हमारी आसक्ति और मोहांधता का है। अगर हम उचित रूप में व्यवहार करना सीख जांय तो वह धन ही हमारे पार्थिव जीवन को सर्वाङ्गसुन्दर बनाने वाली एक अनिवार्य शक्ति बन जायगा। पूर्ण दिव्य जीवन को प्रतिष्ठित करने के लिये ऐश्वर्य और सौंदर्य की अधिष्ठात्री देवी की आवश्यकता को क्या हम कभी अस्वीकार कर सकते हैं ?

भय या उपेक्षा का भाव होने से जो योगी धन-सम्पत्ति का त्याग करते हैं वे अपने पक्ष में दो बातें कह सकते हैं। पहली बात यह है कि अर्थ और काम मानो एक दूसरे से गुथे हुए हैं। काँचन का स्पर्श बड़े ही विचित्र ढङ्ग से हमारे अन्दर कामना की आग जला देता है, योगी के अन्तःकरण की लुप्तप्राय भोगतृष्णा को नाना प्रकार से उद्दीप्त कर देता है। इसलिये साधना के पथ में सोने की थैली को सावधानी के साथ दूर रखना ही सबसे अधिक निरापद है। दूसरी बात यह है कि जो साधक धूलि-धूसरित इस ऐहिक जीवन का कोई निगूढ़ रहस्य स्वीकार नहीं करते, जिनका परम लक्ष्य है जगत् के साथ सब प्रकार के सम्बन्ध को नष्ट कर भगवान् की चिद्घन और आनन्दघन सत्ता के अन्दर निरन्तर डूबे रहना, उनके लिये काँचन या अन्य किसी शक्ति के प्रयोग की वैसी कोई आवश्यकता नहीं हो सकती। वे चाहते हैं विश्वातीत शान्ति, इसलिये विश्वगत शक्तियां उनकी दृष्टि में तुच्छ हैं; वे चाहते हैं निश्चल भूमा चेतना में शाश्वत स्थिति, इसलिये कर्म-जीवन का सहायक अर्थ उनके लिये केवल प्रलोभन है। परन्तु हम जानते हैं कि पूर्णयोगका उद्देश्य हमारे इस ऐहिक जीवन को, इस नश्वर मर्त्य भूमि को भी लिये हुए है। पूर्णयोगी चाहता है विश्वातीत के अन्दर निहित आनन्द को विश्व के प्रत्येक स्तर में विकसित

द्वन्द्वों में अभिव्यक्त करना, अर्थात् उस लीला के खेले जाने में सहायक होना। पूर्णयोगी का लक्ष्य है सच्चिदानन्द की तुरीय शक्ति को मर्त्य के अन्दर उतार कर अपने इहजीवन को दिव्य रूप प्रदान करना। इस उद्देश्य को सिद्ध करने के लिये कर्म अपरिहार्य है, और कर्म के लिये अर्थ, शक्ति आदि सब की आवश्यकता है। कांचन का त्याग कर जीवन के परे एक भूमानन्द को प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु उस भूमानन्द को जीवन के प्रत्येक भाग में स्थापित करने के लिए, पार्थिव जीवन का सर्वाङ्गीण विकास करने और पूर्णता प्राप्त करने के लिए कांचन की भी आवश्यकता है। तब यह बात यहां याद रखनी होगी कि पृथ्वी का सब मणि-कांचन माँ भगवती का है, उन्हीं की इच्छा से उन्हीं का उद्देश्य पूरा करने के लिये पूर्णयोगी अपने अधिकार में आये हुए धन का उपयोग करेगा। इसलिये इस विषय में श्रीअरविन्द की शिक्षा यह है कि पूर्णयोगी को दोनों भिन्नमुखी चरम मार्गों का त्याग करना होगा। एक ओर उसे अपने मन से सब प्रकार से भोगासक्ति और अर्थलोलुपता को समूल नष्ट कर देना होगा और दूसरी ओर अर्थविषयक सब प्रकार के संकोच और भय को निकाल बाहर करना होगा। पूर्णयोगी की प्रधान चेष्टा होगी चित्त की समता को बनाये रखना;—संपद् और विपद् में, ऐश्वर्य और दरिद्रता में, जीवन की भली बुरी सभी अवस्थाओं में माँ की इच्छा

को हृदयंगम करना। अगर दुःख-दैन्य आवे तो उसे हंसते हुए स्वीकार करना चाहिये; दारुण दरिद्रता के भीतर भी योगी का मन अचल, प्रशान्त रहना चाहिये, आत्मानुभूति के आनन्द से भरा हुआ होना चाहिये। परन्तु इसी कारण भला दरिद्रता के प्रति आसक्ति भी क्यों उत्पन्न होगी? रिक्तता ही आध्यात्मिकता की श्रेष्ठ अवस्था क्यों मानी जायेगी? जब ऐश्वर्य का प्राचुर्य होगा तब उसका सद्व्यवहार भी करने के लिये तैयार रहना चाहिये; विपुल ऐश्वर्य के अन्दर भी योगी का मन निर्लिप्त, अनासक्त, नित्ययोगयुक्त रहना चाहिये। योगीको अपनी किसी लालसा को चरितार्थ करने के लिये धन-ऐश्वर्यका उपयोग नहीं करना चाहिए, बल्कि पृथ्वी पर भागवत जीवन स्थापित करने में सहायता पहुंचाने के लिये करना चाहिये। इसीलिये हमने पहले कहा है कि भोगैश्वर्य का त्याग कर दरिद्रता के व्रत को ग्रहण करना एक बहुत बड़ी बात है, परन्तु उससे भी बड़ी बात है चित्तकी समता —जीवन की विभिन्न अवस्थाओं से होकर निष्कामभाव से पर साथ ही सक्रिय भावसे एक ही ध्रुव लक्ष्य की ओर अग्रसर होना।

आजकल पृथ्वी की धन-संपदा ऐसे लोगों के हाथ में पड़ गयी है जो उसका सद्व्यवहार करना बिलकुल ही नहीं जानते। इस कारण मनुष्य का धनबल आज असुर की पूजा में व्यय हो रहा है या तो अर्थके उच्छृङ्खल अपव्यय के द्वारा दानवीय प्रवृत्ति

चरितार्थ हो रही है अथवा देशाचार या लोकाचार के अनुसार धन का व्यवहार होने के कारण हमारा क्षुद्र "अहं" परितृप्त हो रहा है। इस विषय में पूर्णयोगी का एक बड़ा कर्त्तव्य यह है कि वह अनधिकारी के हाथ से धन-बल को निकाल कर मां के सामने अर्पण करे जिसमें दिव्य जीवन के सौन्दर्य और सुषमा को बढ़ाने के काम में धन ऐश्वर्य अपना यथायोग्य स्थान प्राप्त कर सके। इस कर्त्तव्य का पालन सब से उत्तम रूपमें वे ही लोग कर सकते हैं जिनके अन्तःकरण से अहंकार और अंधकामना का विनाश हो गया है और जो कोई दावा पेश न कर अपनी सारी उपार्जन-शक्ति को निःशेषतया मां के हाथों में सौंप देने में समर्थ हैं।

कर्म और योग

पूर्णयोगी की दृष्टि में जिस तरह पृथ्वी का अर्थबल मां की ही एक विश्वजनीन शक्ति की स्थूल अभिव्यक्ति है और योगी का कर्त्तव्य है समस्त धन मां के चरणों में उत्सर्ग कर उन्हीं के निर्देशानुसार व्यय करना, उसी तरह पृथ्वी की समस्त कर्मशक्ति का चरम स्रोत भी है मां भगवती की इच्छा और योगी का कर्त्तव्य है, जीवन के समस्त कर्मों को मां के चरणों में उत्सर्ग कर उन्हीं की इच्छा के अनुसार नियंत्रित करना। अवश्य ही इस विषय में प्रचलित मत एकदम उल्टा ही है। हमारे देश के दार्शनिक लोगों का विश्वास है कि पृथ्वी की समस्त कर्मधारा

के मूल में, तथा समग्र सृष्टि-प्रवाह के मूल में जो शक्ति क्रिया कर रही है वह है अविद्याशक्ति, माया या प्रकृति। अतएव अध्यात्म-साधना का उच्चतम लक्ष्य है पृथ्वी के कर्मप्रवाह से बहुत ऊपर उठ जाना—सृष्टिपरायणा शक्ति को पूर्ण रूप से अतिक्रम कर जाना। अवश्य ही साधनपथ में कर्म की आवश्यकता को दूर नहीं किया जा सकता तथा कर्म-बन्धन से मुक्ति पाने के लिये जीवन के सभी कर्मों को भगवन्मुखी बनाने की भी आवश्यकता है, फिर भी जब योगी अज्ञान के क्षीणतम बन्धन तक को छिन्न कर विशुद्ध आत्मज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाता है तब कर्म निरर्थक हो जाता है। अब भला कौन कर्म करेगा? किस लिये करेगा? स्वयंपूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्माको क्या कोई अभाव है? उसे किस बात की आवश्यकता हो सकती है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है, क्यों? अन्यान्य बद्ध जीवों के मंगल और मुक्ति के लिये आत्मज्ञान करने के बाद भी तो योगी के लिये कर्म करना संभव है। परन्तु शुद्ध ज्ञानवादी के सामने इस युक्ति की भी सीमा है कि योगी के अन्दर लोक-संग्रह के लिये कर्म करने का संकल्प भी तभी तक रह सकता है जब तक वह अपने आप को अविद्या के एक अत्यन्त झीने आवरण से ढके हुए है, अर्थात् जब तक वह परिनिर्वाण या पूर्णलय को नहीं प्राप्त करता और अज्ञान को अपने अन्दर कार्य करने देता है। हमने पहले ही

कहा है कि शुद्ध ज्ञानवादी के मतानुसार समस्त कर्मशक्ति का मूल है अविद्या। निरवच्छिन्न रूप से पूर्ण ज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाने पर अविद्या के सारे सम्बन्ध नष्ट हो जाते हैं। उस समय सारा जगत्-प्रपंच मिथ्या माया में परिणत हो जाता है और कर्ममात्र ही अर्थहीन प्रतीत होता है, चाहे वह कर्म स्वार्थ के लिये हो या परार्थ के लिए।

परन्तु पूर्णयोग के अन्दर ज्ञान और कर्म के बीच के सभी विरोध एक अपूर्व समन्वय में जाकर परिसमाप्त हो जाते हैं। श्रीअरविन्द कहते हैं कि पृथ्वी के समस्त कर्म-प्रवाह का चरम मूल-स्रोत अज्ञान या अविद्या नहीं है, बल्कि चिरजागृत सच्चिदानन्दमयी शक्ति है। ज्ञानमयी शक्ति के इशारे से ही अर्थात् माँ भगवती की इच्छा से ही सृष्टि की अनन्तकोटि क्रियायें-प्रक्रियायें एक अपूर्व शृङ्खला में नियंत्रित हो रही हैं। हमारे जीवन में आपाततः जो अविद्या मालूम होती है वह विद्या की ही एक विशेष अभिव्यक्ति है। हम जिसे निश्चेतन बाह्य प्रकृति कहते हैं वह चिन्मयी शक्ति का ही एक स्थूलतम रूप है। ज्ञानमयी शक्ति पूर्ण ज्ञान का अवलम्बन करके ही अनन्त सृष्टि के अन्दर अनन्त लीला का विस्तार करती है—किसी अभाव को दूर करने के लिए नहीं, किसी मनमानी बात को पूरा करने के लिए नहीं, बल्कि उसी विराट् आनन्दघन सत्ता की विचित्र अभिव्यक्ति के लिए।

अतएव हमारा यह कर्ममय जीवन उस ज्ञानमयी शक्ति की ही बहुविध लीला-प्रचेष्टा है, और विशुद्ध ज्ञानस्वरूप की छन्दोमयी अभिव्यक्ति है। पूर्णयोग का लक्ष्य है सर्वांगीण आत्मसमर्पण के द्वारा दिव्य चेतना में जागृत होकर लीलामयी माँ का एक अङ्ग बन जाना जिसमें माँ की इच्छा और साधक की इच्छा में कोई भेद न रहे, जिसमें माँ के कर्म और साधक के कर्म में, माँ की प्रेरणा और साधक के संकल्प में तनिक भी भेद न रहे।

साधना के आरम्भ में ही माँ के साथ पूर्ण सक्रिय एकत्व (complete dynamic identification) स्थापित करना संभव नहीं। इसलिये साधक को एक-एक कर कई स्तरों से हो कर आगे बढ़ना पड़ता है। पहले स्तर में सेवक-भाव से साधना करनी होती है, दूसरे स्तर में यंत्र-भाव की उपलब्धि होती है, और तीसरे या सबसे अन्त के स्तर में साधक यह अनुभव करता है कि वह मां का एक अंश है या मां के साथ उसका पूर्ण एकत्व स्थापित हो गया है। इन विविध स्तरों के विषय में यहां कुछ और विस्तार के साथ कहने की आवश्यकता है।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'—गीता के इस प्रसिद्ध वचन का मर्मार्थ ग्रहण कर कर्म-साधना आरम्भ होती है। साधक पहले-पहल अपने को माँ भगवती का दास या सेवक समझता है। मां के सेवक के रूप में केवल माँ द्वारा निर्दिष्ट कर्म के

ऊपर ही उसका अधिकार होता है, कर्मका फलाफल माँ के ऊपर ही छोड़ देना होता है। साधक किसी पुरस्कार की आशा रखे बिना ही, कर्मफल के ऊपर किसी प्रकार की आसक्ति न रख, पूर्ण निष्काम भाव से कर्म करता है। माँ का सेवक केवल यही इच्छा करता है कि उसके कार्य के द्वारा मां सन्तुष्ट हो, मां के सभी कार्य सुन्दर रीति से सम्पन्न हों। इस निष्काम कर्म के द्वारा दिन-दिन साधक दिव्य चेतना, दिव्य आनन्द और दिव्य शक्ति से अपने अन्तर को समृद्ध बनाता है। साधक के लिये यही तो सबसे बड़ा पुरस्कार है।

निष्काम कर्मसाधना धीरे-धीरे साधक को एक गम्भीरतर उपलब्धि के स्तर में ले आती है और वह है दूसरे स्तर की यंत्र-भाव की उपलब्धि। पहले स्तर में साधक मां के सेवक के रूप में कर्म में अपना अधिकार समझता है, उसका दावा करता है, परन्तु दूसरे स्तर में उसे यह अनुभव होता है कि कर्म में भी उसका अपना कोई वास्तविक अधिकार नहीं, क्योंकि सभी कर्मों का मूल स्रोत मां स्वयं हैं। साधक के द्वारा स्वयं मां ही सभी कार्यों को संपन्न करती हैं, साधक के शरीर, प्राण और मन मां के हाथ के केवल यन्त्र हैं, स्थूल जगत् में उन की अभिव्यक्ति के आधार हैं। पहले स्तर में साधक को कर्मफल मां के प्रति उत्सर्ग करना होता है, दूसरे स्तर में साधक कर्म को भी मां के हाथों में

सौंप देता है। पहले स्तर में साधक कर्मफल की स्पृहा या आसक्ति का त्याग करता है, दूसरे स्तर में कर्तृत्वाभिमान तक उसके अन्दर से विलुप्त हो जाता है। पहले स्तर में साधक का स्वातंत्र्य-बोध प्रबल होता है, वह अलग एक कर्मी होता है, मां का सेवक या पुजारी होता है; दूसरे स्तर में भेद-ज्ञान बहुत कुछ दूर हो जाता है, साधक अब मां की लीला का उपकरण, उनके हाथ का यंत्र बन जाता है। जिस समय अपने भीतर यह रूपान्तर चल रहा हो उस समय साधक को सदा सतर्क रहने की जरूरत है जिसमें किसी प्रकार अहंकार आकर चेतना को आक्रान्त न कर ले। आधार के अन्दर कार्य करने वाली मां की शक्ति को अगर साधक अपनी कोई व्यक्तिगत इच्छा पूरी करने में लगाना चाहता है तो उसकी उन्नति का मार्ग ही बन्द हो जाता है। यहां तक कि अगर मां का यंत्र होने का भी गर्व या दर्प मन में स्थान पा जाता है तो उससे साधना में बड़ा विघ्न आ उपस्थित होता है।

तीसरे या अंतिम स्तर में साधक को बड़ी अपूर्व अनुभूति होती है। सिद्धि की इस अंतिम अवस्था में साधक का पूर्ण स्वातंत्र्य-बोध दूर हो जाता है और वह मां भगवती के साथ पूर्ण एकत्व प्राप्त कर लेता है। अब साधक की अपनी कोई अलग सत्ता नहीं रह जाती; साधक अब मां का सेवक या पुजारी मात्र

नहीं होता, अथवा मां के हाथ का यंत्रमात्र भी नहीं होता, अब वह मां की वास्तविक सन्तान, उनका सनातन अंश बन जाता है। इस अवस्था में साधक सहज और स्वाभाविक रूप में यह अनुभव करता है कि वह सदा माँ की गोदी में ही निवास कर रहा है, और मां भी सर्वदा उसके भीतर विराज रही है,—मां की सत्ता से ही उसकी सत्ता है, मां की चेतना से ही उसकी चेतना है, मां की शक्ति की ही वह शक्ति है और मां के आनन्द का ही वह आनन्द है। मां के साथ इस प्रकार सक्रिय एकत्व स्थापित होने पर साधक को दिव्य कर्म की सर्वांगसुन्दर सिद्धि प्राप्त होती है: उसे केन्द्र बनाकर मां भगवती अबाध रूप से दिव्य जीवन गठित करने का सुयोग पाती हैं।

मां की त्रिविध सत्ता

मां भगवती की सत्ता त्रिविध है, अर्थात् अखण्ड और अविभाज्य होने पर भी मां एक साथ ही तीन अवस्थाओं में विराजमान रहती हैं, और इन विभिन्न अवस्थाओं में रह कर विभिन्न रूपों में कार्य करती हैं, और फिर मां के अद्वितीय होने पर भी उनकी असंख्य शक्तियां और मूर्त्तियां हैं, असंख्य विग्रह और विभूतियां हैं: वह एक होने पर भी अनन्त रूपों के अन्दर अपने-आपको प्रकट करती हैं। मां की इन असंख्य शक्तियों और

विग्रहों में चार प्रधान हैं — महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती। हम पहले संक्षेप में मां की त्रिविध सत्ता का पर्य्यालोचन करेंगे :

भगवान के विषय में हम यह जानते हैं कि वह एक संग तीन अवस्थाओं में अवस्थान करते हैं — विश्वातीत रूप में (Transcendental), विश्वव्यापी रूप से (Universal) और व्यष्टि रूप से (Individual)। मां भगवती के विषय में भी यही बात है। वह एक साथ ही विश्वातीता आद्या पराशक्ति, विश्वव्यापिनी विश्वरूपिणी महाशक्ति और व्यष्टिरूपिणी स्नेहमयी जननी हैं। आद्या पराशक्ति सृष्टि-प्रवाह से बहुत ही ऊपर अवस्थान करती हैं और अव्यक्त परब्रह्म के साथ वैचित्र्यमय इस व्यक्त जगत् को जोड़े रखती हैं। आद्या शक्ति का कार्य है अनिर्वचनीय परम पुरुष के अन्दर निहित अनन्त सत्यों में से कुछ को उनकी रहस्यावृत अवस्था से नीचे उतार कर अपनी चेतना के अन्दर स्पष्ट रूप प्रदान करना, जिसमें वे विश्वलीला के अन्दर मूर्तिमान हो सकें। स्वयं पुरुषोत्तम आद्या शक्ति की ही सहायता से अपने को प्रकट करते हैं: मां की विश्वातीत चेतना के अन्दर वे सच्चिदानन्द रूप में नित्य प्रकट रहते हैं, मां की ही सहायता से वे 'ईश्वर और शक्ति' की द्वैताद्वैत चेतना के अन्दर और 'पुरुष तथा प्रकृति' के

द्वैततत्त्व के अन्दर उतर आते हैं, और मां के ही द्वारा वे विभिन्न जगतों और लोकों, विभिन्न देवताओं और देव-शक्तियों के विचित्र रूप और आकार परिग्रहण करते हैं। दृश्यमान जो कुछ भी है वह सब पुरुषोत्तम के साथ आद्याशक्ति की लीला है। व्यक्त जगत् के अन्दर ऐसी कोई चीज नहीं रह सकती या घट नहीं सकती जिसे चिद्रूपिणी भागवती शक्ति ने परम पुरुष की अनुमति लेकर अपने सृष्टि के आनंद के अन्दर सर्वप्रथम बीज रूप में न डाला हो।

विश्वव्यापिनी महाशक्ति-रूप में माँ अनंत जगतों और जीवों की सृष्टि करती हैं, अपनी चेतना के अन्दर उन्हें धारण कर फिर उन सबके अन्दर प्रवेश करती हैं तथा विश्व की अनंतकोटि क्रिया-प्रक्रियाओं को परिचालित करती हैं। व्यष्टि रूप में मां हमारे अत्यन्त निकट हैं; वह हमारे अन्तर में उतर आकर मानो हमारा हाथ पकड़ कर धीरे-धीरे हमें सत्यानुभूति के मार्ग पर ले चलती हैं, हमें अपनी (मां की) बृहत्तर सत्ता के अन्दर प्रवेश करने के उपयुक्त बनाती हैं।

आद्याशक्ति पुरुषोत्तम के अन्दर निहित अव्यक्त सत्य को नीचे उतार कर उसे अपनी चेतना के अन्दर एक प्रकट रूप प्रदान करती हैं; महाशक्ति फिर उसी प्रकट सत्य को विश्व-लीला में मूर्तिमान् करती हैं। हम जिसे निश्चेतन जड़ प्रकृति कहते हैं

वह चिद्रूपिणी महाशक्ति की ही अत्यन्त बाहरी अभिव्यक्ति है। प्रकृति की सभी शक्तियां विश्वेश्वरी मां के इशारे से परिचालित और नियंत्रित होती हैं तथा प्रकृति की परिणाम-धारा मां द्वारा निर्धारित लक्ष्य की ओर ही प्रवाहित हो रही है।

परन्तु हमारा यह स्थूल जगत् ही माँ की सारी सृष्टि नहीं है: विचित्र-विचित्र लोकों और भुवनों में उनकी लीला हो रही है। विश्व-लीला के सर्वोच्च शिखर पर है अनंत लोक—अनंत सत्ता, अनन्त चेतना, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द का लोक। इस अनन्त लोक के ऊपर माँ अनावृत शाश्वत शक्ति के रूप में विराजमान हैं। अनन्त लोक के नीचे है अतिमानस विज्ञान-जगत्। मां अतिमानस महाशक्ति के रूप में वहाँ की अधिष्ठात्री देवी हैं। अतिमानस जगत् में मिथ्या की तनिक भी छाया नहीं, भूल-भ्रान्ति या दुर्बलता का कोई चिह्न तक नहीं, दुःख-यंत्रणा के आर्त्तनाद का लेश तक नहीं। वहां पर सब कुछ अखंड सत्य की ज्योति से उद्भासित हो रहा है; वहां पर समस्त अनुभूति अनन्त आनन्द की बाढ़ में सराबोर हो रही है। अतिमानस जगत् के नीचे है हमारा यह अविद्या का जगत—देह, प्राण और मन का जगत्—अंधकार, अपूर्णता और अनृत का जगत्। यहाँ की भी वही चिन्मयी महाशक्ति अधिष्ठात्री देवी हैं: यहां का भी सब कुछ उन्हीं के निर्देशानुसार नियन्त्रित हो रहा है।

परार्द्ध और अपरार्द्ध के मध्यवर्ती लोक में खड़ी होकर माँ हमारे इस अज्ञान के जगत् को आश्चर्यपूर्ण शृंखला के साथ परिचालित कर रही हैं। उनके इस कार्य में उन्हीं की विभिन्न मूर्त्तियां और देवशक्तियां, विभिन्न उद्भूतियां (Emanations) और विभूतियां सहायता करती हैं, इन सब मूर्त्तियों और शक्तियों को वह सामने रख एक प्रच्छन्न अभिनेता के रूप में कार्य किया करती हैं। परन्तु यहां पर यह समझना भूल है कि माँ केवल ऊपर रहकर ही हमारे इस जगत् का शासन करती हैं। वह केवल विश्व की अधिष्ठात्री देवी ही नहीं हैं, वह विश्वव्यापिनी और विश्वरूपिणी भी हैं। वह हमारे इस अनृत के जगत् में नीचे उतरकर आसुरिक और दानवीय शक्तियों के आघात-अत्याचार के अन्दर से होकर अपना व्रत पूरा करने को अग्रसर होती हैं। माँ के अकुंठ आत्म-बलिदान के कारण ही, प्रकृति-यज्ञ के प्रभाव से ही हमारा यह जगत् और जीवन है। चिन्मयी माँ अज्ञान-अन्धकार के अन्दर स्वयं उतर आती हैं जिस में उस अन्धकार को फिर से ज्ञान की पूर्ण ज्योति में परिणत कर सकें; वह हमारे जीवन की नश्वरता के अन्दर उतर आती हैं जिसमें इस नश्वर जीवन को अमर, अमृतमय बना सकें; वह विश्व के शोक-ताप, दुःख-यंत्रणा के अन्दर उतर आती हैं जिसमें सम्पूर्ण वेदना को अपूर्व दिव्य आनन्द में रूपान्तरित कर सकें।

मां की चार शक्तियां

माँ की विश्वातीत, विश्वव्यापी और व्यष्टि इस त्रिविध सत्ता के विषय में एक धारणा बनाने की चेष्टा हमने की है। अब हम संक्षेप में विश्वव्यापिनी मां के शक्ति-चतुष्टय का पर्यालोचन करेंगे। पार्थिव लीला को सर्वाङ्गसुन्दर बनाने के लिये विश्वेश्वरी मां की चार प्रधान शक्तियां उनके अग्रभाग में आकर खड़ी होती हैं। हम पहले ही कह चुके हैं कि महाशक्ति के ये चार महारूप हैं—महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती। Wisdom, Strength, Harmony and Perfection—प्रज्ञान, प्रताप, सुसंगति और संसिद्धि ये शक्तिचतुष्टय के विभिन्न गुण हैं। इन्हीं दिव्य गुणों को लेकर ये चारों शक्तियां विश्व की जीवनधारा के अन्दर उतर आती हैं; माँ की जो विभूतियां हैं वे एक-एक गुण का स्फुलिंग धारण कर शक्तिमान होती हैं; मां के प्रति जिन लोगों की प्रकृति खुली हुई होती है वे लोग इन सब ऐश्वर्यों के स्पर्श से नवजीवन प्राप्त करते हैं।

महेश्वरी अनन्त ज्ञानमयी हैं: इसी कारण वह मानसभूमि से ऊपर सीमाहीन विशालता के अन्दर, विक्षोभहीन महान शांति के अन्दर निवास करती हैं। कोई भी चीज उन्हें छिपा नहीं सकती, क्योंकि सृष्टि का विधान वह जानती हैं और सारा भविष्य उनकी आंखों के सामने खुला हुआ है। विभिन्न वस्तुओं और

घटनाओं को तथा विभिन्न जीवों को वह उनके अन्दर निहित सत्य के अनुसार परिचालित करती हैं। ज्ञानी को वह गम्भीरतर ज्ञान का पता बताती हैं; असुर को वह दुःख के रास्ते से मंगल की ओर ले जाती हैं; मूढ़ को वह अन्धकार के भीतर से होकर आलोक की ओर ले जाती हैं। विरुद्ध शक्ति के प्रति खूब निष्ठुर दिखायी देने पर भी महेश्वरी अपार अनन्त करुणा की मूर्ति हैं। अवश्य ही करुणा उनकी ज्ञान-दृष्टि को आच्छन्न नहीं कर सकती, अथवा उनके कर्म को सत्य के पथ से हटा नहीं सकती। राक्षस या असुर के लिये जब वह अपने कठोर हाथों से दण्ड देने की व्यवस्था करती हैं तब वह दण्ड-विधान उनकी ज्ञानगर्भ करुणा की ही अभिव्यक्ति होता है, क्योंकि उस दण्ड को भोगने के कारण ही असुर के लिये यह संभव होता है कि वह अहंकार का त्याग कर सत्य के पथ में, आत्म-कल्याण के मार्ग में, विश्व-कल्याण के मार्ग में लौट आ सके।

महाकाली प्रलयङ्कर प्रताप को अपने अन्दर धारण करती हैं। वह अप्रतिहत रुद्रतेज और सर्वजयी शक्ति की खान हैं। हमारे जीवन में जो कुछ क्षुद्र और संकीर्ण है, जो कुछ मिथ्या और तमोग्रस्त है, जो कुछ आसुरिक और भगवद्विरोधी है सब को क्षण भर में संचूर्णित करके हमारी प्रकृति को एक समुन्नत भागवत महिमा के अन्दर उठा ले जाने का प्रयास महाकाली

करती हैं। इसी कारण जो लोग भीरु, दुर्बल या आसुरिक प्रकृति वाले हैं उनके मन में महाकाली का नाम भय का संचार करता है; परन्तु जो लोग शक्तिमान् और वीर साधक हैं वे लोग उनका अत्यधिक आदर करते हैं, सबसे आगे उन्हीं को पूजा का आसन प्रदान करते हैं। महाकाली के एक हाथ में जैसे भयावह शासन-दण्ड है, वैसे ही उनके दूसरे हाथ में स्नेह का कोमल स्पर्श है। मिथ्याचार के विरुद्ध जैसे उनका क्रोध तीव्र होता है वैसे ही अभयदान के लिए उनका एक हाथ सदा खुला होता है, क्योंकि एक ही साथ वह प्रलयङ्करी और स्नेहमयी व करुणामयी हैं। महाकाली की कृपा से अनेक शताब्दियों की तपस्या का फल एक दिन में पाया जा सकता है; उनकी दिव्य प्रचण्डता और क्षिप्रता हमारी कल्पना के बाहर की चीज है। वह कर्म को आशुफलप्रद, आनन्द को तीव्रतम, ज्ञान को विश्वविजयी, सिद्धि को सर्वाङ्गसुन्दर बनाती हैं तथा सौन्दर्य को एक समुन्नत ऊर्ध्वगति प्रदान करती हैं।

महालक्ष्मी की विशेषता है अनुपम सुषमा और सुसंगति। उनके विश्वविमोहन सौंदर्य को यदि अलग कर दिया जाय तो प्रज्ञान और प्रताप अपूर्ण ही रह जायेंगे। उनकी दुर्निवार आकर्षण-शक्ति ही जगत् की सब वस्तुओं को, सब शक्तियों को, सब जीवों को एक साथ पकड़े रखती है, उन सब को परस्पर

मिलित होने के लिये बाध्य करती है, जिसमें मां का प्रच्छन्न आनन्द विचित्र रूपों और छन्दों में लीलायित हो सके। मां के विभिन्न महारूपों में महालक्ष्मी का आकर्षण ही जीव के लिए सब से अधिक प्रबल होता है। महेश्वरी इतनी महान और दुराधिगम्य हैं कि पृथ्वी का क्षुद्र जीव उनके समीप जाते हुए संकोच करता है अथवा उन्हें धारण करने में असमर्थ होता है; महाकाली इतनी प्रचण्ड और तीव्र हैं कि दुर्बल मनुष्य उनका स्पर्श सहन नहीं कर पाता; किन्तु महालक्ष्मी की ओर सभी एक दुर्निवार मोहिनी शक्ति के द्वारा आकृष्ट होते हैं। उन की दृष्टि से जीवन माधुर्य से भर जाता है, उनके स्पर्श से साधक के भीतर आनन्द का झरना खुल जाता है। परन्तु इन भामयी महालक्ष्मी को सन्तुष्ट करना अथवा उन्हें अपने अन्दर धारण करना आसान काम नहीं है। उनकी पूजा करनी होती है अन्तर के सौन्दर्य के द्वारा, मन और आत्मा के अन्दर सुसंगति स्थापित करके, विभिन्न विचारों और भावनाओं में, विभिन्न कार्यों तथा बातों में, जीवनके भीतर और बाहर सामंजस्यकी प्रतिष्ठा करके। जहां पर सुसंगति और प्रेम का अभाव होता है, जहां पर विरोध और संघर्ष होता है, वहां से देवी दूर चली जाती हैं। जो कुछ कुत्सित और बीभत्स है, जो कुछ रूक्ष और मलिन है वह सब देवी के मन में एक प्रकार की दिव्य घृणा को उत्पन्न करता है;

उनके सामने वह अपने आपको एक पर्दे के अन्दर छिपा रखती है। महालक्ष्मी का कार्य है प्रेम और सौन्दर्य के द्वारा मनुष्य को भगवान् के साथ युक्त कर देना। अतएव एक ओर जैसे वह भोगविलासी की उच्छृङ्खलता से घृणा के साथ किनारा काट कर चली जाती हैं वैसे ही दूसरी ओर तपस्वी की अनावश्यक रूक्षता और कठोरता का भी समर्थन नहीं करतीं। उन्हें प्रसन्न करने का उपाय यह है कि मनकी सौन्दर्यानुभूति और हृदय के गंभीरतर आवेगों का कठोरतापूर्वक दमन या निष्पेषण न करके इन्हें भगवन्मुखी कर दिव्य महिमा में रूपान्तरित किया जाय।

महासरस्वती की विशेषता है संसिद्धि (Perfection of work)। सभी कार्यों को सर्वाङ्गसुन्दर बनाना, प्रत्येक वस्तु को ब्योरेवार समग्र के अन्दर यथास्थान सन्निविष्ट करना, सब प्रकार से सारे दोषों और त्रुटियों को दूर करना उनका प्रधान व्रत है। माँ की वह कर्मशक्ति हैं, इस कारण एक ओर जैसे वह मां की चारों शक्तियोंमें सब से छोटी हैं, वैसे ही दूसरी ओर स्थूल बाह्य प्रकृति तथा मनुष्य के कर्मजीवन के अत्यन्त निकट हैं। माँ की अन्यान्य शक्तियोंके सभी कर्म अपनी पूर्णताके लिए महासरस्वती के ऊपर निर्भर करते हैं। महेश्वरी विभिन्न जागतिक शक्तियों की बृहत् धाराओं को निश्चित कर देती हैं, महाकाली उन्हें गति और वेग प्रदान करती हैं, महालक्ष्मी उनके छन्द और परिमाण

की रक्षा करती हैं और महासरस्वती सर्वदा यह ध्यान रखती हैं कि उन सब जागतिक शक्तियों का यथायथ समावेश और प्रयोग करके माँ की इच्छा को अत्यन्त सुन्दर रूप में वास्तविकता में परिणत किया जा सके। सृष्टि को सर्वाङ्गसुन्दर बनाने के लिए वह अनन्त काल तक परिश्रम करने के लिये तैयार हैं। महासरस्वतीके प्रसादसे मनुष्य सभी कर्मों में अपूर्व दक्षता प्राप्त करता है, तथा सभी विषयोंमें आश्चर्यजनक सूक्ष्म बोध और पुंखानुपुंख ज्ञान प्राप्त करता है। अवश्य ही उनका प्रसाद प्राप्त करनेके लिए हमारा संकल्प होना चाहिए अव्यभिचारी तथा हमारी इच्छा होनी चाहिए एकनिष्ठ, द्विधाहीन और आन्तरिक। वह मनुष्य के अत्यन्त निकट उतर आती हैं और असीम धैर्यके साथ उसकी प्रकृति के दिव्य रूपान्तर के काम में सहायता करती हैं। हमारे हजारों दोषों-त्रुटियों, हजारों असफलताओं के होने पर भी वह निराश या विमुख नहीं होतीं, हाथ पकड़ कर, सदा उत्साह देते हुए हमें जीवन की पूर्णता की ओर ले आना ही उनका प्रधान लक्ष्य है।

अतिमानस महाशक्ति

हम पहले ही कह चुके हैं कि मां की असंख्य शक्तियां, रूप और विग्रह हैं। अवश्य ही विश्व का परिचालन करने में प्रकट रूपसे जो शक्तियां मांकी सहायता किया करती हैं उनमें महेश्वरी,

महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती ही सब से प्रधान हैं। परन्तु इस शक्तिचतुष्टय के अतिरिक्त भी माँ के अन्यान्य महारूप हैं। उनका अवतरण कराना अधिक कठिन है और अब तक पार्थिव जीवन के क्रमविकास में उन्होंने प्रकट रूप में कोई सहायता नहीं की है। किन्तु तो भी पूर्णयोग के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अर्थात् अतिमानस विज्ञान को पार्थिव चेतना में प्रतिष्ठित कर भागवत जीवन की रचना करने के लिये माँ की उन सब विरल शक्तियों में से कुछ का आविर्भाव अत्यन्त आवश्यक है। उनमें से भी एक शक्ति की बात यहाँ विशेष रूपसे कहने की जरूरत है; वह हैं मां के दुर्ज्ञेय और दुर्वार आनन्द की मूर्त्ति। वह आनन्द एक अपूर्व भागवत प्रेम से उत्पन्न हुआ है: विश्व की अन्यान्य शक्तियों का प्रच्छन्न आश्रयस्थल वही आनन्द है: और केवल वही आनन्द ज्योतिर्मय अतिमानस चेतना और निश्चेतन जड़ के मध्यवर्त्ती विपुल व्यवधान को दूर कर अतिमानस सिद्धि या अनुपम दिव्य जीवन की प्रतिष्ठा को संभव कर सकता है। वर्तमान समय में मनुष्य की प्रकृति इतनी क्षुद्र और तमसावृत हो रही है कि मां की वृहत्तम शक्ति का धारण करने में वह असमर्थ है। हमारा शरीर, प्राण और मन ये जब यथेष्ट रूपान्तरित होकर मां की चारों शक्तियों की स्वच्छन्द लीला के यंत्र बन जायेंगे तभी मां की बृहत्तर शक्तियां पृथ्वी पर

उतरकर अतिमानस सिद्धि का मार्ग खोल देंगी। उस समय मां स्वयं अपने सभी विग्रहों को अपने अन्दर अपूर्व सामंजस्य के साथ एकत्रित कर अतिमानस महाशक्ति के रूप में आत्म-प्रकाश करेंगी तथा मानवीय प्रकृतिके सभी स्तरोंको अतिमानस ज्योति-प्रवाह से उद्भासित कर हमारे पार्थिव जीवन को अमृतमय बना देंगी। निःशेष आत्मसमर्पण के द्वारा इन अतिमानस महाशक्ति का आवाहन करना तथा उनके साथ सचेतन सहयोग करना ही अतिमानस-योग का प्राण है, यही इसका मूलमंत्र है।

माँ का आवाहन-गीत

आओ मैया आओ।
हृदय गगन में आओ॥

अन्तस्थ शत्रु से मुक्त कर माँ! मम शक्ति उन्मुक्त कर।
शिव-विश्व-चेतना युक्त कर अपनी ज्योति जगाओ॥

आओ मैया आओ।
हृदय कमल पर आओ॥

प्राणोंकी, मनकी स्वरी उठा सबमें, तू अपनी झलक दिखा।
मेरा मैं, मुझ से दूर हटा घट घट में छा जाओ॥

आओ मैया आओ।
अपना रूप दिखाओ॥

हमको, अघनाशक खड्ग बना अज्ञानविनाशी दीप बना।
अपने हाथों का यंत्र बना अपना कार्य कराओ॥

आओ मैया आओ।
रग रग में रम जाओ॥

अदिति की पुकार

'अदिति' जीवन और संसार के संबन्ध में एक निश्चित दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती है। वह दृष्टिकोण योगिराज श्रीअरविन्द का आध्यात्मिक अनुभव है। उस अनुभवकी सत्ता 'अदिति' के दृष्टिकोण का बल है। इस अनुभव में मनुष्यमात्र का उज्ज्वल और तेजोमय भविष्य निहित है। उस उद्देश्य को बतलाना, वास्तव में उसे प्राप्त करने का रास्ता दिखलाना, श्रीअरविन्द का सन्देश है। इसी को सर्वसामान्य जिज्ञासुओं के लिये उपस्थित करना 'अदिति' का लक्ष्य है।

आज पश्चिम में अनेक दिशाओं से बुद्धिवाद का खण्डन होता दिखाई देता है। बरगसां (Bergson) बुद्धि (intellect) को बाह्य-जगत्‌के सम्बन्ध में व्यवहार करनेके लिये एक क्रियात्मक साधन बतलाता है। सत्ता वास्तव में एक अन्तर्दृष्टि के साक्षात् अनुभव (intuition) से जानी जा सकती है। वर्तमान भौतिक शास्त्रके प्रगाढ़ पण्डित आईनस्टाईन (Einstein) का कहना है कि वैज्ञानिक विधि (Scientific Method) से सत्ताके प्रत्यक्ष स्वरूप को ही जाना जा सकता है न कि उसके आन्तरिक मर्म को। अभी हाल में एक सुन्दर छोटी-सी पुस्तक 'पेलीकन सीरीज'

में देखने में आई। उस का नाम है Beyond the isms (वादों से परे): बड़ा सुन्दर नाम है। उस में विद्वान् लेखक बड़े बल-पूर्वक दर्शाता है कि वर्तमान संसार के कोटि दुःखों को दूर करने का दावा करते हुए आज वादों पर वाद उपस्थित होते चले जाते हैं। परन्तु वे सब अपनी-अपनी बोलियां बोल, कुछ दिन चह-चहा, चल बसते हैं। पहले विरोधों और संकटों को दूर करते करते दो चार और नये विरोध संसार को अपने दे जाते हैं। इस प्रकार जीवन संकटमय से अधिक संकटमय बनता चला जाता है। ये सब, लेखकमहोदय का कहना है, बुद्धि की उपज हैं। ये इस कारण से आंशिक और एकाङ्गी हैं। बुद्धि के हल सदा ऐसे ही होंगे। वास्तवमें आत्मा ही एक सत्ता है जो अपने अन्दर जीवन की अन्य सब गतियों को एक समन्वय में ला सकती है। अतः हमें आत्मा के विचार तक उठना होगा। वहां पर ही हमारे सब कष्टों का यथार्थ हल मिलेगा।

जहां यह सब विचार बड़ा सुन्दर है वहां यह भी प्रत्यक्ष ही है कि विचारक विचार और बुद्धि के अन्दर ही घूमता-फिरता उन की सीमा को अनुभव कर रहा है। वास्तव में आवश्यकता उस आत्म-सत्यको हृदयंगम करने की है। ठीक यही बात श्रीअरविन्द ने अपने जीवन-प्रभात में अनुभव की थी और उसे ही आज वे अधिकृत सत्य के रूप में उपस्थित करते हैं। वही चरितार्थ

आध्यात्मिक जीवन का हल संसार की आशा है। श्रीअरविन्द की यही आज चेतावनी है। यही उत्साही पुरुषों को आज उन की चुनौती है।

इस हल का महासाधन है योग। श्रीअरविन्द के लिये जीवन और सत्तामात्र योगमय हैं। All life is yoga। प्रकृति ने विकास में उत्तरोत्तर महत्तर और अधिक बलवती चेतना को पैदा किया है। यह उस की योग-क्रिया है। परन्तु मनुष्य में वह योग सचेत क्रिया बन जाती है। उस से विकास की गति तेज हो सकती है। मनुष्य प्रकृति और सत्ता का सचेत सहयोगी बन सकता है। ऐसा बनने के लिये ही आज श्रीअरविन्द का आवाहन है। उन की पुकार है "ओ मनुष्य, तू अपनी सत्ता के मर्म को समझ, तू आत्मा को पहिचान। शरीर, प्राण और मन तेरी सच्ची सत्ता नहीं हैं। आत्मा तेरा केन्द्र है, वहां स्थित होने से तू अपने सभी अंगों को यथार्थ रूप से अधिकृत करेगा। मनुष्य, तू अपने इस स्वर्णमय भविष्य को चरितार्थ कर। यह तुझे साध्य है, पूरी तरह से प्राप्य भी है।"

यह योगिराज श्रीअरविन्द की पुकार व्यक्ति को है तथा एक समान समाज को भी। हमारे सामाजिक दुःख आज अप रूप धारण किये हुए हैं। इन दुःखों को दूर करने के उपाय हमारे अनेक 'वाद' (isms) हैं। परन्तु वाद अपने स्वरूप से ही

आंशिक और आंगिक चीज़ हैं। वे विरोध और संकट से जन्म पाते हैं और संघर्ष से बढ़ते तथा शक्तिशाली बनते हैं। वे सम्पूर्णता और समतुलन भला कैसे पैदा कर सकते हैं? वे तो बुद्धि में अपना अस्तित्व रखते हैं। परन्तु आत्मा ही वह विशाल और गम्भीर आधार है जो संपूर्ण व्यक्तित्व तथा सत्ता को अधिकृत करता है। इस वास्ते श्रीअरविन्द की पुकार है आत्म-जीवन चरितार्थ करो। यही हमारे सब प्रश्नों, वैयक्तिक तथा सामाजिक का यथार्थ हल है। अन्य हमारे सब हल अधूरे हैं, अधकचरे हैं, समझौते से हैं। इन सब प्रश्नों का सच्चा हल ढूंढने वाले वीरों का रास्ता आत्म-विजय है। यह आत्म-विजय संसार-भगोड़ों को प्राप्त नहीं हो सकती। उपनिषद् का ही प्रसिद्ध कथन है—नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।

श्रीअरविन्द की यह पुकार वास्तव में हमारी, अन्दर से, अपनी आत्मा की पुकार है, संपूर्ण सत्ता-स्वयं की पुकार है। इस को सुनना और इस का अनुकरण करना 'जीवन' की पहली शर्त है। यही सच्चा पुरुषार्थ भी है।

श्रीअरविन्द के सुन्दर शब्द हैं—"The ascent to the divine life is the human journey, the work of works, the acceptable Sacrifice. This alone is man's real business in the world and the

justification of his existence,......" "दिव्य जीवन को पाने के लिये आरोहण करना, यही है मनुष्य की यात्रा, कार्यों का कार्य, उसका वरणीय यज्ञ। एकमात्र यही मनुष्य का संसार में असली काज है, इसी में ही उस की सत्ता की सार्थकता है।"

यह है मनुष्य-जीवन की सच्ची यात्रा। इस यात्रा के हम सच्चे यात्री बन सकें यही हमारी अभीप्सा है। और यदि 'अदिति' इस में सहायक बन रही है तो यह जरूर अपने उद्देश्य को किसी अंश में पूरा कर रही है।

मां ! मैं तेरा

हर स्वर मेरा उच्चार करे, हर सांस मम झंकार करे।
मेरा हर रोम पुकार करे, 'मैं तेरा माँ ! मैं तेरा' ॥
मन मृदंग के सब तालों में, हृत्तंत्री के सब तारों में।
धुन यही एक गुंजार करे, 'मैं तेरा माँ ! मैं तेरा' ॥
जीवन के शरद वसन्तों में, गरमी जल शिशिर हिमन्तों में।
हृत-कुञ्ज में कोकिल कूक करे, 'मैं तेरा मां ! मैं तेरा' ॥
आवेदन चरणों में मेरा, टूटे मां ! सीमा का घेरा।
पुलकित हो सकल पुकार करे, 'मैं तेरा मां ! मैं तेरा' ॥

[यह गीत श्री दिलीपकुमारजी ने २५ जुलाई १९४३ को रेडियो पर गाया था और फिर उनके गान में 'हिज़ मास्टर्स वायस' के रिकार्ड में भरा जा चुका है।]